पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अनुक्रमणिका

मंगलाचरण

001) केवलज्ञान को प्रणाम
001) आगम का वंदन
003) ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा

भूमिका

004) वक्ता का लक्षण
005) दो नयों का उपदेश
005) व्यवहार नय का उपदेश
007) व्यवहारनय का प्रयोजन
007) पक्षपात-रहित को देशना का फल

ग्रन्थ प्रारम्भ

009) जीव का लक्षण
009) जीव कर्त्ता और भोक्ता
011) आत्मा को अर्थ सिद्धि कब और कैसे?
011) जीव-भाव कर्म-परिणमन का निमित्त
013) कर्म-भाव जीव-परिणमन का निमित्त
013) संसार का बीज
015) पुरुषार्थ-सिद्धि का उपाय
015) इस उपाय में कौन लगता है?
017) उपदेश देनें का क्रम
017) क्रम-भंग उपदेशक की निंदा
019) उसको दण्ड का कारण

श्रावकधर्म व्याख्यान

020) यथा-शक्ति भेद रत्नत्रय का ग्रहण
021) तीनों में प्रथम किसको अंगीकारे?
021) सम्यक्त्व का लक्षण
023) निःशंकित अंग
023) निःकांक्षित अंग
025) निर्विचिकित्सा अंग
025) अमूढद्रष्टि अंग
027) उपगूहन अंग
027) स्थितिकरण अंग
029) वात्सल्य अंग
029) प्रभावना अंग

सम्यग्ज्ञान अधिकार

033) सम्यक्त्व के पश्चात ज्ञान क्यों कहा?
033) युगपत कारण-कार्य का दृष्टांत

सम्यक-चारित्र अधिकार

039) चारित्र का लक्षण
039) चारित्र के भेद
041) द्विविध चारित्र के स्वामी
041) पाँचों पाप हिंसात्मक

अहिंसा व्रत

043) हिंसा का स्वरूप
043) हिंसा अहिंसा का लक्षण
045) द्रव्य-हिंसा को हिंसा मानने में अतिव्याप्ति दोष
045) द्रव्य-हिंसा को हिंसा मानने में अव्याप्ति-दोष
047) उसका कारण
047) प्रमाद के सद्भाव में परघात भी हिंसा
049) परिणामों की निर्मलता हेतु हिंसा से निवृत्ति
049) एकान्त का निषेध
051) उसके आठ सूत्र
051) उपसंहार
060) हिंसा-त्याग का उपदेश
060) हिंसा-त्याग में प्रथम क्या करना?
062) मद्य के दोष
062) मदिरा से हिंसा कैसे?
064) भाव-मदिरा पान
064) मांस के दोष
066) स्वयं मरे हुए जीव के भक्षण में दोष
066) मांस में निगोद जीव की उत्पत्ति
068) उपसंहार
068) मधु के दोष
070) मधु जीवों का उत्पत्ति स्थान
070) समुच्च-रूप से त्याग
072) पांच उदंबर फल के दोष
072) सुखाकर खाने में भी दोष
074) उपसंहार
074) त्याग के प्रकार
076) सर्वथा और एकदेश त्याग
076) स्थावर हिंसा में भी विवेक
078) दूसरों को देखकर व्यथित न हो
078) धर्म के निमित्त हिंसा में दोष
080) देवों के लिए हिंसा का निषेध
080) गुरुओं के लिए हिंसा का निषेध
082) एकेंद्रिय और बहु-इन्द्रिय जीव घात में विवेक
082) हिंसक जीवों की भी हिंसा न करे
084) हिंसक जीवों को दया वश भी न मारे
084) दुखी जीवों को भी न मारे
086) सुखी जीवों को भी न मारे
086) गुरु को समाधि के निमित्त भी न मारे
088) मिथ्या मत प्रेरित मुक्ति के निमित्त भी न मारे
088) दयावश स्वयं का भी घात न करे
090) उपसंहार

सत्य-व्रत

091) सत्य-व्रत का स्वरूप
092) असत्य - प्रथम भेद
092) असत्य - द्वितीय भेद
094) असत्य - तृतीय भेद
094) असत्य - चतुर्थ भेद
096) निन्द्य वचन
096) पाप-युक्त वचन
098) अप्रिय असत्य
098) असत्य वचन हिंसात्मक
100) प्रमत्त योग द्वारा असत्य हिंसात्मक

100) इसके त्याग का प्रकार

अचौर्य-व्रत

102) चोरी का वर्णन
102) चोरी प्रगटरूप से हिंसा है
104) हिंसा और चोरी में अव्याप्ति नहीं
104) हिंसा और चोरी में अतिव्याप्तिपना भी नहीं
106) चोरी के त्याग का प्रकार

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

107-108) शील (अब्रह्म) का स्वरूप
109) अनंगक्रीड़ा में हिंसा
109) कुशील के त्याग का क्रम

परिग्रह-परिमाण

111) परिग्रह पाप का स्वरूप
111) ममत्व-परिणाम ही वास्तविक परिग्रह है
113) शंका-समाधान
113) अतिव्याप्ति-दोष परिहार
115) परिग्रह के भेद
115) आभ्यन्तर परिग्रह के भेद
117) बाह्य परिग्रह के दोनों भेद हिंसामय
117) हिंसा-अहिंसा का लक्षण
119) दोनों परिग्रहों में हिंसा
119) समान बाह्य अवस्था में ममत्व में असमानता
121) ममत्व-मूर्च्छा में विशेषता
121) इस प्रयोजन की सिद्धि
123) उदाहरण
123) परिग्रह त्याग करने का उपाय
125) अवशेष भेद
125) बाह्य परिग्रह त्याग का क्रम
128) सर्वदेश त्याग में अशक्य एकदेश त्याग करें

रात्री-भोजन त्याग

129) रात्रि भोजन त्याग का वर्णन
130) रात्रिभोजन में भावहिंसा
130) शंकाकार की शंका
132) उत्तर
132) रात्रिभोजन में द्रव्यहिंसा

गुण-व्रत

137) दिग्व्रत
137) दिग्व्रत पालन करने का फल
139) देशव्रत
139) अपध्यान
142) पापोपदेश
142) प्रमादचर्या
144) हिंसाप्रदान
144) दु:श्रुति
146) जुआ का त्याग
146) विशेष

शिक्षा-व्रत

148) सामायिक शिक्षाव्रत
148) सामायिक कब और किस प्रकार
151) प्रोषधोपवास

151) प्रोषधोपवास की विधि
153) उपवास के दिन का कर्त्तव्य
153) पश्चात् क्या करना चाहिये?
155) इसके बाद क्या करना?
155) उपवास का फल
158) उपवास में विशेषत: अहिंसा
158) उपवास में अन्य चार महाव्रत भी
160) श्रावक और मुनियों के महाव्रत में अन्तर
160) भोगोपभोगपरिमाण
163) विशेष
163) विशेष
165) विशेष
165) विशेष
167) अतिथि संविभाग
167) नवधा भक्ति
169) दातार के सात गुण
169) दान योग्य वस्तु
171) पात्रों का भेद
171) दान देने से हिंसा का त्याग
175) सल्लेखना
175) सल्लेखना आत्मघात नहीं
178) आत्मघातक कौन?
178) सल्लेखना भी अहिंसा
180) शीलों के कथन का संकोच
180) पाँच अतिचार
182) सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार
182) अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार
184) सत्य अणुव्रत के पाँच अतिचार
184) अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार
186) ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार
186) परिग्रहपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार
188) दिग्व्रत के पाँच अतिचार
188) देशव्रत के पाँच अतिचार
190) अनर्थदण्डत्यागव्रत के पाँच अतिचार
190) सामायिक के पाँच अतिचार
192) प्रोषधोपवास के पाँच अतिचार
192) भोग-उपभोगपरिमाण के पाँच अतिचार
194) वैयावृत्त के पाँच अतिचार
194) सल्लेखना के पाँच अतिचार
196) अतिचार के त्याग का फल
196) बाह्य तप
199) अतरङ्ग तप
199) मुनिव्रत की प्रेरणा
201) छह आवश्यक
201) तीन गुप्ति
203) पाँच समिति
203) दश धर्म
205) बारह भावना
205) बाईस परीषह
209) निरन्तर रत्नत्रय का सेवन
209) गृहस्थों को शीघ्र मुनिव्रत की प्रेरणा
211) अपूर्ण रत्नत्रय से कर्म-बंध
211) रत्नत्रय और राग का फल

215) बंध का कारण
215) रत्नत्रय से बन्ध नहीं
217) रत्नत्रय से शुभ प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं
217) उसे स्पष्ट कहते हैं
219) सम्यक्त्व को देवायु के बन्ध का कारण क्यों?
219) उसका उत्तर
224) परमात्मा का स्वरूप
224) नय-विवक्षा
226) आचार्य द्वारा ग्रन्थ की पूर्णता

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-अमृतचंद्राचार्य-देव-प्रणीत

श्री

पुरुषार्थसिद्युपाय

मूल संस्कृत गाथा

आभार : हिंदी पद्यानुवाद -- पं अभय-कुमारजी, देवलाली

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥ **अर्थ** : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीपुरुषार्थसिद्युपाय नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार: श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य स्वामि-अमृतचंद्राचार्यदेव विरचितं, श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र श्रीपुरुषार्थसिद्युपाय नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूंथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य स्वामि-अमृतचंद्राचार्यदेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

केवलज्ञान को प्रणाम

तज्जयति परं ज्योति: समं समस्तैरनन्तपर्यायै: ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥1॥
त्रैकालिक पर्याय सहित जो सकल पदार्थ समूह अहो ।
दर्पणतल-वत् झलकें जिसमें परम ज्योति जयवन्त रहो ॥१॥

अन्वयार्थ : [तत्] वह [परं] उत्कृष्ट [ज्योतिः] ज्योति (केवलज्ञानरूपी प्रकाश) [जयति] जयवन्त हो [यत्र] जिसमें [समस्तैः] सम्पूर्ण [अनन्तपर्यायैः] अनन्त पर्यायों से [समं] सहित [सकला] समस्त [पदार्थमालिका] पदार्थों की माला (समूह) [दर्पणतल इव] दर्पण के तल भाग के समान [प्रतिपफलति] झलकते हैं ।

आगम का वंदन

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम् ।
सकलनय विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥2॥
परमागम का बीज निषेधक जन्मान्धों का हस्तिकथन ।
नय-विरोध सम्पूर्ण विनाशक अनेकांत को करूँ नमन ॥२॥

अन्वयार्थ : [परमागस्य] उत्कृष्ट आगम अर्थात् जैन सिद्धान्त का [बीजं] प्राण-स्वरूप, [निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुराविधानम्] जन्म से अन्धे पुरुषों द्वारा होने वाले हाथी के स्वरूप-विधन का निषेध् करने वाले, [सकलनयविलसितानां] समस्त नयों की विवक्षा से विभूषित पदार्थों के [विरोधमथनं] विरोध को दूर करने वाले [अनेकान्तम्] अनेकान्त-धर्म को [नमामि] मैं (श्रीमदमृतचन्द्रसूरि) नमस्कार करता हूँ ।

ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन ।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥3॥
जो त्रिलोक का एक नेत्र, जाना प्रयत्न से आगम को ।
यह पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय है प्रगट करूँ विद्वानों को ॥३॥

अन्वयार्थ : [लोकत्रयैकनेत्रम्] तीन लोक को देखने वाले नेत्र समान [परमागमं] उत्कृष्ट आगम (जैन-सिद्धांत) को [प्रयत्नेन] अनेक प्रकार के उपायों से (भले प्रकार) [निरूप्य] जानकर [अस्माभिः] हमारे द्वारा [अयं] यह [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय:] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (नामक ग्रन्थ) [विदुषां] विद्वान् पुरुषों के लिये [उपोद्ध्रियते] उद्धार करने में आता है ।

वक्ता का लक्षण

मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधा: ।
व्यवहार निश्चयज्ञा: प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥4॥
मुख्य और उपचार कथन से शिष्यों का अज्ञान हरें ।
जानें निश्चय अरु व्यवहार सुधर्म-तीर्थ उद्योत करें ॥४॥

अन्वयार्थ : [मुख्योपचार विवरण] मुख्य और उपचार कथन के विवेचन [दुस्तरविनेय] प्रकटरूपेण दुर्निवार [दुर्बोधा:] अज्ञान [निरस्त] नाशक [व्यवहार निश्चयज्ञाः] व्यवहार और निश्चय के ज्ञाता [प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम्] जगत में धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कराते हैं ॥४॥

दो नयों का उपदेश

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुख: प्राय: सर्वोऽपि संसार: ॥5॥
निश्चय है भूतार्थ और व्यवहार यहाँ अभूतार्थ कहा ।
भूतार्थ-बोध से विमुख अहो प्राय: सारा संसार रहा ॥५॥

अन्वयार्थ : [इह] यहाँ [निश्चयं] निश्चयनय को [भूतार्थं] भूतार्थ और [व्यवहारं] व्यवहारनय को [अभूतार्थं] अभूतार्थ [वर्णयन्ति] वर्णन करते हैं । प्राय: [भूतार्थबोध विमुख:] भूतार्थ (निश्चयनय) के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है, वह [सर्वोऽपि] समस्त ही [संसार:] संसार-स्वरूप है ॥५॥

व्यवहार नय का उपदेश

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥6॥

अज्ञानी को समझाने के लिए करें व्यवहार कथन ।
जो केवल व्यवहार जानते उन्हें नहीं जिनराज वचन ॥६॥
अन्वयार्थ : [मुनीश्वरा: अबुधस्य बोधनार्थं] आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये [अभूतार्थं देशयन्ति] व्यवहारनय का उपदेश करते हैं और [य: केवलं] जो केवल [व्यवहारम् एव] व्यवहारनय को ही [अवैति] जाने [तस्य देशना नास्ति] उनको उपदेश नहीं है ॥६॥

व्यवहारनय का प्रयोजन

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥7॥
जिसे शेर का ज्ञान नहीं वह बिल्ली को ही सिंह जाने ।
निश्चय से अनजान जीव व्यवहार-कथन निश्चय मान ॥७॥
अन्वयार्थ : [यथा] जिस प्रकार [अनवगीत सिंहस्य] सिंह को सर्वथा न जाननेवाले पुरुष के लिये [माणवक:] बिलाव [एव] ही [सिंह:] सिंहरूप [भवति] होता है, [हि] निश्चय से [तथा] उसी प्रकार [अनिश्चयज्ञस्य] निश्चयनय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिये [व्यवहार:] व्यवहार [एव] ही [निश्चयतां] निश्चयपने को [याति] प्राप्त होता है ॥७॥

पक्षपात-रहित को देशना का फल

व्यवहारनिश्चयौ य: प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ: ।
प्राप्नोति देशनाया: स एव फलमविकलं शिष्य: ॥8॥
निश्चय अरु व्यवहार नयों का जान-स्वरूप रहे मध्यस्थ ।
जिनवाणी को सुनने का फल पूर्ण प्राप्त करता वह शिष्य ॥८॥
अन्वयार्थ : [य:] जो जीव [व्यवहारनिश्चयौ] व्यवहारनय और निश्चयनय को [तत्त्वेन] वस्तुस्वरूप से [प्रबुध्य] यथार्थरूप से जानकर [मध्यस्थ:] मध्यस्थ [भवति] होता है अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनय के पक्षपातरहित होता है, [स:] वह [एव] ही [शिष्य:] शिष्य [देशनाया:] उपदेश का [अविकलं] सम्पूर्ण [फलं] फल [प्राप्नोति] प्राप्त करता है ॥८॥

जीव का लक्षण

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जित: स्पर्शगन्धरसवर्णै: ।
गुणपर्ययसमवेत: समाहित: समुदयव्ययध्रौव्यै: ॥9॥
वर्ण-गन्ध-रस-पर्श रहित चेतन स्वरूप है पुरुष अहो ।
गुण-पर्याय सहित है व्यय-उत्पाद-ध्रौवय से युक्त अहा ॥९॥
अन्वयार्थ : [पुरुष: चिदात्मा अस्ति] पुरुष (आत्मा) चेतना-स्वरूप है, [स्पर्शरसगन्धवर्णै:] स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से [विवर्जित:] रहित है, [गुणपर्ययसमवेत:] गुण और पर्याय सहित है, तथा [समुदयव्ययध्रौव्यै:] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य [समाहित:] युक्त है ॥८॥

जीव कर्त्ता और भोक्ता

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥10॥
वह अनादि सन्तति से ज्ञान-विवर्तनमय परिणमन करे ।
निज परिणामों में परिणमता कर्त्ता-भोक्ता हुआ करे ॥१०॥
अन्वयार्थ : [स:] वह (चैतन्य आत्मा) [अनादिसन्तत्या] अनादि की परिपाटी से [नित्यं ज्ञानविवर्त्तै:] निरन्तर ज्ञानादि गुणों के विकाररूप (रागादि परिणामों) से [परिणममान:] परिणमन करता हुआ [स्वेषां परिणामानां] अपने (रागादि) परिणामों का [कर्त्ता च भोक्ता च] कर्ता

और भोक्ता भी [भवति] होता है ॥१०॥

आत्मा को अर्थ सिद्धि कब और कैसे?

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्य: सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न ॥11॥
जब वह सर्व विकारों से हो पार अचल चेतन को प्राप्त ।
होता है कृतकृत्य तभी सम्यक्पुरुषार्थ सिद्धि को प्राप्त ॥११॥

अन्वयार्थ : [यदा] जब [स:] उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा [सर्वविवर्त्तोत्तीर्ण] विभावों से पार होकर [अचलं] अपने निष्कम्प [चैतन्यं] चैतन्यस्वरूप को [आप्नोति] प्राप्त होता है [तदा] तब यह आत्मा उस [सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिम्] सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को [आपन्न:] प्राप्त होता हुआ [कृतकृत्य:] कृतकृत्य [भवति] होता है ।

जीव-भाव कर्म-परिणमन का निमित्त

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला: कर्मभावेन ॥12॥
चेतन कृत परिणामों का निमित्तपना पाकर के मात्र ।
कर्मरूप परिणमते हैं पुद्गल परमाणु अपने आप ॥१२॥

अन्वयार्थ : [जीवकृतं] जीव के किये हुए [परिणामं] रागादि परिणामों का [निमित्त-मात्रं] निमित्तमात्र [प्रपद्य] पाकर [पुन:] फिर [अन्ये पुद्गला:] जीव से भिन्न अन्य पुद्गल स्कन्ध [अत्र] आत्मा में [स्वयमेव] अपने आप ही [कर्मभावेन] ज्ञानावरणादि कर्मरूप [परिणमन्ते] परिणमन कर जाते हैं।

कर्म-भाव जीव-परिणमन का निमित्त

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै: स्वयमपि स्वकैर्भावै: ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥13॥
स्वयं किये चिन्मय भावों में परिणमते इस चेतन को ।
निमित्त मात्र होते हैं पुद्गल परमाणुमय कर्म अहो ॥१३॥

अन्वयार्थ : [हि] निश्चय से [स्वकै:] अपने [चिदात्मकै:] चेतनास्वरूप [भावै:] रागादि परिणामों से [स्वयमपि] स्वयं ही [परिणममानस्य] परिणमन करते हुए [तस्य चित अपि] पूर्वोक्त आत्मा के भी [पौद्गलिकं] पुद्गल सम्बन्धी [कर्म] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म [निमित्तमात्रं] निमित्तमात्र [भवति] होता है ।

संसार का बीज

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभास: स खलु भवबीजम् ॥14॥
कर्मजन्य भावों से चेतन इस प्रकार संयुक्त न हो ।
अज्ञानी को एक भासते निश्चय यह भवबीज अहो ॥१४॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [अयं] यह आत्मा [कर्मकृतै:] कर्मकृत [भावै:] रागादि अथवा शरीरादि भावों से [असमाहितोऽपि] संयुक्त न होने पर भी [बालिशानां] अज्ञानी जीवों को [युक्त: इव] संयुक्त जैसा [प्रतिभाति] प्रतिभासित होता है और [स: प्रतिभास:] वह प्रतिभास ही [खलु] निश्चय से [भवबीजं] संसार का बीजरूप है ।

पुरुषार्थ-सिद्धि का उपाय

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥15॥
विपरीताभिनिवेश नष्ट कर निजस्वरूप का सम्यक्ज्ञान ।
निज में ही अविचल थिरता पुरुषार्थ-सिद्धि का यही उपाय ॥१५॥
अन्वयार्थ : [विपरीताभिनिवेशं] विपरीत श्रद्धान का [निरस्य] नाश करके [निज-तत्त्वम्] निजस्वरूप को [सम्यक्] यथार्थरूप से [व्यवस्य] जानकर [यत्] जो [तस्मात्] अपने उस स्वरूप में से [अविचलनं] भ्रष्ट न होना [स एव] वही [अयं] इस [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय:] पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है ।

इस उपाय में कौन लगता है?

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि
सीलफलेणब्भुदयं तत्ते पुण लहइ णिव्वाणं ॥16॥
रत्नत्रय पद धारी मुनिवर तजते हैं नित पापाचार ।
अहो अलौकिक वृत्ति धारते पर-द्रव्यों से रहें उदास ॥१६॥
अन्वयार्थ : [एतत् पदम् अनुसरतां] इस (रत्नत्रयरूप) पदवी का अनुसरण करनेवाले [करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा] पाप क्रिया मिश्रित आचारों से सवर्था परान्मुख तथा [एकान्तविरतिरूपा] सवर्था उदासीन [भवति मुनीनां अलौकिकी वृत्ति:] मुनियों की वृत्ति आलौकिक होती है ।

उपदेश देनें का क्रम

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥17॥
बारबार कहने पर भी जो सकल पाप कर सकें न त्याग ।
उनको समझाते हैं करना, एक-देश पापों का त्याग ॥१७॥
अन्वयार्थ : [यः बहुशः प्रदर्शितां] जो बारबार बताने पर भी [समस्त विरतिं जातु] पूर्ण विरति (मुनिपने) को कदाचित् [न गृहण्ति] ग्रहण न करे तो [तस्य एकदेशिविरतिः] उसको एक-देशविरत (श्रावकपद) का [कथनीया अनेन बीजेन] कथन इस प्रकार करना ।

क्रम-भंग उपदेशक की निंदा

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥18॥
मुनिव्रत का उपदेश न दे अरु श्रावकव्रत का करे कथन ।
कोई अल्पमति तो जिन प्रवचन में उसको दण्ड विधान ॥१८॥
अन्वयार्थ : [यः अल्पमतिः] जो तुच्छ-बुद्धि [यतिधर्मम् अकथयन्] मुनिधर्म को नहीं कह करके [गृहस्थधर्मम् उपदिशति तस्य] श्रावकधर्म का उपदेश देता है, उसे [भगवत्प्रवचने] भगवंत के सिद्धांत में [निग्रहस्थानम्] दण्ड देने का स्थान [प्रदर्शितं] दिखलाया है ।

उसको दण्ड का कारण

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्साहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुमर्तिना ॥19॥
उस दुर्मति के अक्रम कथन से मुनिव्रत में उत्साहित शिष्य ।
अरे! ठगाया गया तुच्छ पद में ही वह होकर सन्तुष्ट ॥१९॥
अन्वयार्थ : [यतः तेन] जिस कारण से उस [दुर्मतिना] दुर्बुद्धि के [अक्रमकथनेन] क्रमभंग कथनरूप उपदेश करने से [अतिदूरम्] अत्यंत

दूर तक [प्रोत्साहमानोऽपि] उत्साहवान् होने पर भी [शिष्यः अपदे अपि] शिष्य तुच्छ-स्थान में ही [संप्रतृप्तः] संतुष्ट होकर [प्रतारितः भवति] ठगाया जाता है ।

यथा-शक्ति भेद रत्नत्रय का ग्रहण

एवं सम्यग्दर्शनबोध चारित्रत्रयात्मको नित्यं ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः ॥20॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण इन तीन भेदमय मुक्ति-मार्ग ।
सेवन करने योग्य सदा है यथाशक्ति श्रावक को जान ॥२०॥
अन्वयार्थ : [एवं सम्यग्दर्शनबोध चारित्रत्रयात्मकः] इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र इन तीन भेद स्वरूप [मोक्षमार्गः नित्यं] मोक्षमार्ग सदा [तस्य अपि यथाशक्ति] उस पात्र को भी अपनी शक्ति के अनुसार [निषेव्यः भवति] सेवन करने योग्य होता है ।

तीनों में प्रथम किसको अंगीकारे?

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवित ज्ञानं चरित्रं च ॥21॥
इनमें सबसे पहले सम्यग्दर्शन पूर्णयत्न से ग्राह्य ।
क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान चरित होते सम्यक् ॥२१॥
अन्वयार्थ : [तत्रादौ अखिलयत्नेन] इन तीनों में प्रथम समस्त प्रकार सावधानतापूवर्क यत्न से [सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम्] सम्यग्दशर्न को भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये [यतः तस्मिन् सत्येव] क्योंकि उसके होने पर ही [ज्ञानं च चारित्रं भवित] सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है ।

सम्यक्त्व का लक्षण

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत् ॥22॥
जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदा कर्तव्य ।
विपरीताभिनिवेश रहित यह श्रद्धा ही है आत्मस्वरूप ॥२२॥
अन्वयार्थ : [जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां] जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का [श्रद्धानं] श्रद्धान [विपरीताभिनिवेश विविक्तम्] विपरीत चिंतन (झुकाव) छोड़कर [सदैव कर्त्तव्यम्] निरंतर करना चाहिए [आत्मरूपं तत्] वह (श्रद्धान) आत्मा का स्वरूप है ॥२२॥

निःशंकित अंग

सकलमनेकान्तात्मकमिदयुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या ॥23॥
सर्वज्ञों का कहा हुआ यह अनेकान्तमय वस्तु समूह ।
शंका कभी न करना कि यह है असत्य या सत्य स्वरूप ॥२३॥
अन्वयार्थ : [सकलमनेकान्तात्मकमिदयुक्तं] समस्त अनेकान्तात्मक यह कहा गया [वस्तुजातमखिलज्ञैः] वस्तु-स्वरूप सर्वज्ञों द्वारा [किमु सत्यमसत्यं वा] क्या सत्य है अथवा असत्य है [न जातु शंकेति कर्त्तव्या] ऐसी शंका कभी नहीं करनी चाहिए ॥२३॥

निःकांक्षित अंग

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।
एकान्तवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥24॥

इस भव परभव में वैभव या चक्री, नारायण पद की ।
दूषित जो एकान्तवाद से अन्य धर्म चाहो न कभी ॥२४॥

अन्वयार्थ : [इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र] इस जन्म में एश्वर्य, सम्पदा आदि और परलोक में [चक्रित्वकेशवत्वादीन्] चक्रवर्ती, नारायण आदि पदों को और [एकान्तवाददूषित परसमयानपि] एकान्तवाद से दूषित पर-धर्मों को भी [च नाकांक्षेत्] न चाहे ॥२४॥

निर्विचिकित्सा अंग

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरिषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥25॥
क्षुधा तृषा सर्दी गर्मी इत्यादि विविध संयोगों में ।
ग्लानि कभी भी नहिं करना मल-मूत्रादि परद्रव्यों में॥25॥

अन्वयार्थ : [क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु] भूख, प्यास, सरदी, गरमी इत्यादि [नानाविधेषु भावेषु] नाना प्रकार के भावों में और [द्रव्येषु पुरिषादिषु] विष्टा आदि पदार्थों में [विचिकित्सा नैव करणीया] ग्लानि नहीं करनी चाहिए ॥२५॥

अमूढद्रष्टि अंग

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥26॥
लोक, शास्त्र-आभास समय-आभास देव-आभासों में ।
तत्त्वों में रुचिवन्त पुरुष श्रद्धान मूढ़ता रहित करें ॥26॥

अन्वयार्थ : [लोके शास्त्राभासे] लोक में, शात्राभ्यास में, [समयाभासे च देवताभासे] धर्माभास में और देवाभास में [तत्त्वरुचिना नित्यमपि] तत्त्वों में रुचिवान (सम्यग्दृष्टि) को सदा ही [अमूढदृष्टित्वम् कर्त्तव्यम] मूढ़ता-रहित दृष्टि (श्रद्धान) करनी चाहिए ।

उपगूहन अंग

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥27॥
मार्दव आदि भावनाओं से आत्मधर्म में वृद्धि करो ।
उपबृंहण के लिए और पर-दोषों को भी गुप्त रखो ॥२७॥

अन्वयार्थ : [उपबृंहणगुणार्थं] उपगूहन गुण के लिये [मार्दवादिभावनया] मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओं से [सदा आत्मनो धर्म:] निरन्तर अपने आत्मा को धर्म (शुद्धस्वभाव) की [अभिवर्द्धनीय:] वृद्धि करनी चाहिए और [परदोष-निगूहनमपि विधेयम्] दूसरे के दोषों को गुप्त भी रखना चाहिए ।

स्थितिकरण अंग

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषुवर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥28॥
काम क्रोध लोभादिक प्रगटे, न्याय मार्ग से चलित करें ।
शास्त्रों के अनुसार स्व-पर दोनों का स्थितिकरण करें॥28॥

अन्वयार्थ : [कामक्रोधमदादिषु] काम, क्रोध, मद, लोभादि [न्यायात् वर्त्मन:] न्यायमार्ग (धर्ममार्ग) से [चलयितुम् उदितेषु] विचलित करवाने के लिए प्रगट हुआ होने पर [श्रुतं आत्मन: परस्य च] शास्त्र अनुसार अपनी और पर की [स्थितिकरणं अपि कार्यम्] स्थिरता भी करनी चाहिए ।

वात्सल्य अंग

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।

सर्वेष्वपि च सधर्मिषुपरमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥29॥

अन्वयार्थ : [शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने] मोक्ष-सुख-स्वरूप सम्पदा के कारणभूत [धर्मे अहिंसायां च] धर्म और अहिंसा पूर्वक [सर्वेष्वपि सधर्मिषु] सभी साधर्मी जनों में [अनवरतं] निरंतर [परमं] उत्कृष्ट [वात्सल्यं] वात्सल्य (प्रीति) का [आलम्ब्यम्] आलम्बन करना चाहिए ।

प्रभावना अंग

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।

दान तपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥30॥

आत्मा की करना प्रभावना सतत तेज रत्नत्रय से ।

जिनशासन की, अतिशय विद्या पूजा दान शील तप से ॥३०॥

अन्वयार्थ : [सततमेव रत्नत्रयतेजसा] निरंतर ही रत्नत्रय के तेज से [आत्मा प्रभावनीय: च] स्वयं को प्रभावनायुक्त करना चाहिए और [दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयै:] दान, तप, जिनपूजन और विद्या के अतिशय से अर्थात् इनकी वृद्धि करके [जिनधर्म:] जैनधर्म की प्रभावना करना चाहिए ।

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरुप्य यत्नेन ।

आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥31॥

पृथगाराधनमिष्टंदर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य ।

लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥32॥

आत्म-हितैषी सम्यत्वाश्रित करे यत्न से सम्यग्ज्ञान ।

युक्ति और आमने योग से कर विचार सेवेन सत्ज्ञान ॥३१॥

दर्शन का सहभावी फिर भी ज्ञान पृथक आराधन योग्य ।

भिन्न-भिन्न लक्षण दोनों के अत: भिन्नता सम्भव हो ॥३२॥

अन्वयार्थ : [इति] इस रीति [आश्रितसम्यक्त्वैः] सम्यक्त्व का आश्रय लेने वाले [आत्महितैः] आत्मिहतकारी को [नित्यं] सदैव [आम्नाययुक्तियोगैः] जिनागम की परम्परा और युक्ति के योग से [निरुप्य] विचार करके [यत्नेन] प्रयत्नपूर्वक [सम्यग्ज्ञानं] सम्यग्ज्ञान का [समुपास्यं] भले प्रकार से सेवन करना योग्य है [दर्शनसहभाविनोऽपि] सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होने पर भी [बोधस्य] सम्यग्ज्ञान का [पृथगाराधनं] जुदा ही आराधन करना [इष्टं] कल्याणकारी है [यतः] क्योंकि [अनयोः] इन दोनों में [लक्षणभेदेन] लक्षण के भेद से [नानात्वं] भिन्नता [संभवति] सम्भव है ।

सम्यक्त्व के पश्चात ज्ञान क्यों कहा?

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः ।

ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥33॥

सम्यग्ज्ञान कार्य है सम्यग्दर्शन कारण कहें जिनेन्द्र ।

इसीलिए समकित होने पर इष्ट ज्ञान का आराधन ॥३३॥

अन्वयार्थ : [जिना: सम्यग्ज्ञानं कार्यं] जिनेन्द्रदेव सम्यग्ज्ञान को कार्य और [सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति] सम्यक्त्व को कारण कहते हैं, [तस्मात् सम्यक्त्वानन्तरं] इसलिये सम्यक्त्व के बाद ही [ज्ञानाराधनं इष्टम्] ज्ञान की आराधना योग्य है ।

युगपत कारण-कार्य का दृष्टांत

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि ।

दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥34॥
सम्यग्दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति का है समकाल ।
कारण-कार्य विधान घटित हो जैसे दीपक और प्रकाश॥३४॥
अन्वयार्थ : [कारणकार्यविधानं] कारण और कार्य का विधान [समकालं जायमानयो: अपि] एक समय में उत्पन्न होने पर भी [हि] निश्चय से [दीपप्रकाशयो: इव] दीपक और प्रकाश की तरह [सम्यक्त्वज्ञानयो: सुघटम्] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पर भले प्रकार घटित होता है ।
कर्त्तव्योऽध्यवसायःसदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरुपं तत् ॥35॥
सम्यक् अनेकान्तमय तत्त्वों का निर्णय है करने योग्य ।
संशय और विपर्यय-मोह विहीन ज्ञान है आत्मस्वरूप ॥३५॥
अन्वयार्थ : [सदनेकान्तात्मकेषु] प्रशस्त अनेकान्तात्मक (अनेक स्वभाववाले) [तत्त्वेषु अध्यवसाय: कर्त्तव्य:] तत्त्वों (पदार्थों) में उद्यम करने योग्य है और [तत् संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तं] वह (सम्यग्ज्ञान) संशय, विपर्यय और विमोह रहित [आत्मरूपं] आत्मा का निजस्वरूप है ।
ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥36॥
शब्द **अर्थ** अरु उभय काल-आचार विनय उपधानाचार ।
करो ज्ञान का आराधन बहुमान-अनिह्नवमय आचार ॥३६॥
अन्वयार्थ : [ग्रन्थार्थोभयपूर्णं शब्दरूप] ग्रन्थरूप अर्थरूप और उभय अर्थात् शब्द-अर्थरूप शुद्धता से परिपूर्णता से, [काले विनयेन] काल विनय से [च सोपधानं बहुमानेन समन्वितं] और धारणा-युक्त अत्यन्त सन्मान से सहित तथा [अनिह्नवं ज्ञानं आराध्यम्] (गुरु, शास्त्रकार्ता, ज्ञान आदि को) बिना छिपाये ज्ञान की आराधना करना योग्य है ।
विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः ।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥37॥
दर्शनमोह विनाशक अरु तत्त्वार्थों का है सम्यग्ज्ञान ।
निष्प्रकम्प जो नित्य करें वे सम्यक्चारित्र आलम्बन॥37॥
अन्वयार्थ : [विगलितदर्शनमोहै:] दर्शनमोह के नाश द्वारा [समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थै:] सम्यग्ज्ञान से जिन्होंने तत्त्वार्थ को जाना है [नित्यमपि नि:प्रकम्पै:] सदा ही दृढ़चित्तवान (अकम्प) द्वारा [सम्यक्चारित्रं आलम्ब्यम्] सम्यक्चारित्र अवलम्बन करने योग्य है ।
न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥38॥
यदि अज्ञान सहित चारित्र हो सम्यक्नाम न प्राप्त करे ।
अत: ज्ञान-सम्यक् पाकर ही आराधन-चारित्र कहें ॥३८॥
अन्वयार्थ : [अज्ञानपूर्वकंचरित्रं] अज्ञान (आत्मज्ञान रहित) पूर्वक चारित्र [सम्यग्व्यपदेशं न हि लभते] सम्यक् नाम प्राप्त नहीं करता [तस्मात् ज्ञानानन्तरं] इसलिए सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही [चारित्राराधनं उक्तम्] चारित्र का आराधन कहा है ।

चारित्र का लक्षण

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरुपं तत् ॥39॥
सम्पूर्ण सावद्य योग के, परिहार से चारित्र है ।
वह उदासीन विशद कषायों, से रहित निजरूप है ॥३९॥
अन्वयार्थ : [यत: तत् चारित्रं] क्योंकि वह चारित्र [समस्तसावद्य-योगपरिहरणात्] समस्त पाप-युक्त (मन, वचन, काय के) योग के त्याग

से [सकलकषाय-विमुक्तं] सम्पूर्ण कषाय रहित [विशदं उदासीनं] निर्मल और परपदार्थों से विरक्ततारूप [आत्मरूपं भवति] आत्मस्वरूप होता है ।

चारित्र के भेद

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥40॥
है घात निज परिणाम का, इससे सभी हिंसामयी ।
हैं मात्र बोधन-हेतु शिष्यों, को कहे अनृतादि भी ॥४२॥
अन्वयार्थ : [हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः] हिंसा से, असत्य भाषण से, चोरी से, कुशील से और परिग्रह से [कात्स्न्यैकदेशविरते:] सर्वदेश और एकदेश विरक्ति से वह [चारित्रं जायते द्विविधम्] चारित्र दो प्रकार का हो जाता है ।

द्विविध चारित्र के स्वामी

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥41॥
जो पूर्ण विरति में निरत, मुनि समयसार स्वरूप हैं ।
जो एकदेश विरति निरत, उनके उपासक वही हैं ॥४१॥
अन्वयार्थ : [कात्स्न्यनिवृत्तौ निरत:] सर्वथा-सर्वदेश त्याग में लीन [अयं यति: समयसारभूत: भवति] ये मुनि शुद्धोपयोगरूप स्वरूप में आचरण करनेवाला होता है [या तु एकदेशविरति:] और जो एकदेशविरति है [तस्यां निरत: उपासक: भवति] उसमें लगा हुआ उपासक (श्रावक, भक्त) होता है ।

पाँचों पाप हिंसात्मक

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥42॥
है घात निज परिणाम का, इससे सभी हिंसामयी ।
हैं मात्र बोधन-हेतु शिष्यों, को कहे अनृतादि भी ॥४२॥
अन्वयार्थ : [आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्] आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात होने के कारण [एतत्सर्वं हिंसैव] यह सब हिंसा ही है [अनृतवचनादि केवलं] असत्य वचनादिक के भेद केवल [शिष्यबोधाय उदाहृतम्] शिष्यों को समझाने के लिए कहे गए हैं ।

हिंसा का स्वरूप

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां व्यभावरुपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥43॥
नित द्रव्यभावमयी सुप्राणों, के कषायी योग से ।
है घात का उत्कृष्ट कारण, सुनिश्चित हिंसा ही है ॥४३॥
अन्वयार्थ : [कषाययोगात् यत्] कषाय सहित योग से जो [द्रव्यभावरूपाणाम् प्राणानां] द्रव्य और भावरूप (दो प्रकार के) प्राणों का [व्यपरोपणस्य करणं] व्यपरोपण करना-घात करना [सा खलु सुनिश्चिता] वह निश्चय से भलीभाँति निश्चित की गई [हिंसा भवति] हिंसा है ।

हिंसा अहिंसा का लक्षण

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥44॥

रागादि उत्पत्ति नहीं है, वास्तविक यह अहिंसा ।
उनकी हि उत्पत्ति कही, हिंसा जिनागम सारता ॥४४॥
अन्वयार्थ : [खलु रागादीनां अप्रादुर्भाव:] वास्तव में रागादि भावों का प्रगट न होना [इति अहिंसा भवति] यही अहिंसा है और [तेषामेव उत्पत्ति:] उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही [हिंसा भवति] हिंसा है, [इति जिनागमस्य संक्षेप:] ऐसा जैन सिद्धान्त का सार है ।

द्रव्य-हिंसा को हिंसा मानने में अतिव्याप्ति दोष

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥45॥
रागादि भावों के बिना, युक्ताचरणमय मुनि के ।
अत्यल्प भी हिंसा नहीं है, प्राणपीड़न मात्र से ॥४५॥
अन्वयार्थ : [अपि युक्ताचरणस्य सत:] और योग्य आचरण वाले सन्त पुरुष के [रागाद्यावेशमन्तरेण प्राणव्यपरोपणात्] रागादिभावों के बिना केवल प्राण पीड़न से [हिंसा जातु एव] हिंसा कभी भी [न हि भवति] नहीं होती ।

द्रव्य-हिंसा को हिंसा मानने में अव्याप्ति-दोष

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥46॥
नित अयत्नाचारी दशा, रागादि भावाधीनता ।
से वर्तते के मरे या, नहिं मरे ध्रुव हिंसा सदा ॥४६॥
अन्वयार्थ : [रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्] रागादिभावों के वश में प्रवर्तती हुई [व्युत्थानावस्थायां] अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में [जीव: म्रियतां वा मा] जीव मरो अथवा मत मरो [हिंसा ध्रुवं अग्रे धावति] हिंसा सतत आगे ही दौड़ती है ।

उसका कारण

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥47॥
क्योंकि कषायी जीव पहले, आत्मघात करे स्वयं ।
पश्चात् प्राणीघात हो नहिं, हो सदा ही अनिश्चित ॥४७॥
अन्वयार्थ : [यस्मात् आत्मा सकषाय: सन्] क्योंकि जीव कषाय-सहित हो तो [प्रथमं आत्मना] प्रथम अपने से ही [आत्मानं हन्ति] अपने को घातता है [तु पश्चात्] और बाद में [प्राण्यन्तराणां हिंसा] दूसरे जीवों की हिंसा [जायेत वा न] हो अथवा न हो ।

प्रमाद के सद्भाव में परघात भी हिंसा

हिंसायाअविरमणं हिंसा परिणमनपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥48॥
हिंसा से अविरत के हि परिणत, नित्य हिंसा भी हुई ।
इससे प्रमादी योग में है प्राणव्यपरोपण सभी ॥४८॥
अन्वयार्थ : [हिंसाया: अविरमणं हिंसा] हिंसा से विरक्त न होने से हिंसा होती है और [हिंसापरिणमनं अपि हिंसा भवति] हिंसारूप परिणमन करने से भी हिंसा होती है [तस्मात् प्रमत्तयोगे] इसलिए प्रमाद के योग में [नित्यं प्राणव्यपरोपणं] निरन्तर प्राणघात का सद्भाव है ।

परिणामों की निर्मलता हेतु हिंसा से निवृत्ति

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥49॥
अत्यल्प भी हिंसा नहिं, परवस्तु के कारण कभी ।
पर भाव शुद्धि हेतु हिंसा, आयतन छोड़ो सभी ॥४९॥
अन्वयार्थ : [खलु पुंसः परवस्तुनिबन्धना] निश्चय से आत्मा के पर-वस्तु के कारण से जो उत्पन्न हो ऐसी [सूक्ष्महिंसा अपि न भवति] किंचित-मात्र भी हिंसा भी नहीं होती [तदपि परिणामविशुद्धये] तो भी परिणाम की निर्मलता के लिये [हिंसायतननिवृत्ति: कार्या] हिंसा के स्थान का त्याग करना उचित है ।

एकान्त का निषेध

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥50॥
नहिं जान निश्चय उसे ही, है मूढ निश्चय से करे ।
स्वीकार वह करणालसी, बहि:करण चरण सभी नशे ॥५०॥
अन्वयार्थ : [यः निश्चयं अबुध्यमानः] जो परमार्थ को नहीं जानते हुए [तमेव नियमत: संश्रयते] उसे ही नियम से अंगीकार करता है [स बालः बहि: करणालसः] वह मूर्ख बाह्य-क्रिया में आलसी होता हुआ [करणचरणं नाशयित] चारित्र के कारण का नाश करता है ।

उसके आठ सूत्र

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥51॥
नित एक हिंसा कर भी हिंसा, फल नहीं है भोगता ।
पर अन्य हिंसा नहीं कर भी, हिंस फल को भोगता ॥५१॥
अन्वयार्थ : [हिंसा अविधायापि हि] हिंसा न करते हुए भी निश्चय से [हिंसाफलभाजनं भवत्येकः] एक जीव हिंसा के फल को भोगता है और [कृत्वाप्यपरो हिंसा] दूसरा हिंसा करके भी [हिंसाफलभाजनं न स्यात्] हिंसा के फल को नहीं भोगता ।
एकस्याल्पा हिंसा ददाति कालेफलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥52॥
है अल्प हिंसा भी किसी को, फल बहुत दे उदय में ।
पर महा हिंसा भी किसी को, अल्पफल दे उदय में ॥५२॥
अन्वयार्थ : [एकस्याल्पा हिंसा] एक जीव को तो थोडी हिंसा [ददाति कालेफलमनल्पम्] उदयकाल में बहुत फल देती है और [अन्यस्य महाहिंसा] दूसरे जीव को महान हिंसा भी [स्वल्पफला भवति परिपाके] उदयकाल में अत्यन्त थोड़ा फल देनेवाली होती है ।
एकस्य सैव तीव्रंदिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥53॥
युगपत् मिले हिंसा उदय में, विविधतामय ही रही ।
वह किसी को दे तीव्र फल, दे किसी को अत्यल्प ही ॥५३॥
अन्वयार्थ : [सहकारिणोरपि हिंसा] एक साथ मिलकर की हुई हिंसा भी [अत्र फलकाले] इस उदयकाल में [वैचित्र्यम् व्रजति] विचित्रता को प्राप्त होती है और [एकस्य सैव तीव्रंदिशति फलं] किसी एक को वही (हिंसा) तीव्र फल दिखलाती है और [अन्यस्य सा एव मन्दम्] किसी दूसरे को वही (हिंसा) तुच्छ (फल दिखलाती है) ।
प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृता अपि ।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥54॥

करने से पहले ही फले, करते फले पश्चात् भी ।
आरम्भ कृत बिन फले हिंसा, अनुभवानुसार ही ॥५४॥
अन्वयार्थ : [प्रागेव फलति हिंसा] हिंसा पहले भी फलती है [क्रियमाणा फलति] करते करते फलती है [फलति च कृता अपि] कर लेने के बाद फल देती है और [आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति] हिंसा करने का आरम्भ करके न किये जाने [फलति हिंसानुभावेन] कषायभाव के अनुसार फलती है ।
एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः ।
बहवोविदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ॥55॥
नत एक हिंसा करे फल, भोगें अनेकों बहुत ही ।
मिल करें हिंसा को तथापि, भोगता फल एक ही ॥५५॥
अन्वयार्थ : [एकः करोति हिंसां] एक के हिंसा करने पर [भवन्ति फलभागिनो बहवः] फल भोगनेवाले बहुत होते हैं; [बहवोविदधति हिंसां] अनेकों से हिंसा होने पर [हिंसाफलभुग् भवत्येकः] हिंसा का फल भोगनेवाला एक होता है ।
कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले ।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥56॥
हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥57॥
यह किसी को हिंसा उदय में, एक हिंसामय फले ।
पर किसी को हिंसा अहिंसा, का विपुल फल दे फले ॥५६॥
हो अहिंसा भी पर उदय में, किसी को हिंसा फले ।
पर अन्य को हिंसा निरन्तर, अहिंसा फल में फले ॥५७॥
अन्वयार्थ : [कस्यापि हिंसा फलकाले] किसी को तो हिंसा उदयकाल में [दिशति हिंसाफलमेकमेव] एक ही हिंसा का फल दिखाती है और [अन्यस्य सैव हिंसा] दूसरे किसी को वही हिंसा [दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्] बहुत हिंसा का फल दिखाती है ।
[तु अपरस्य] और किसी को [अहिंसा परिणामे] अहिंसा उदयकाल में [हिंसाफलं ददाति] हिंसा का फल देती है [तु पुनः इतरस्य] तथा दूसरे को [हिंसा अहिंसाफलं दिशित] हिंसा अहिंसा का फल दिखाती है, [अन्यत् न] अन्य नहीं ।
इतिविविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढद्रष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥58॥
यों दुर्गमी बहु भंगमय, घन में सुपथ भूले हुए ।
को नय चलाने में चतुर, बस गुरु ही नित शरण हैं ॥५८॥
अन्वयार्थ : [इतिविविधभङ्गगहने सुदुस्तरे] इस प्रकार अत्यन्त किठनता से पार हो सकनेवाले अनेक प्रकार के भंगों से युक्त गहन वन में [मार्गमूढद्रष्टीनाम्] मार्ग भूले हुए को [प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः] अनेक प्रकार के नय-समूह के ज्ञाता [गुरवो भवन्ति शरणं] श्रीगुरु ही शरण होते हैं ।

उपसंहार

अत्यंतनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥59॥
जिनवर कथित नय चक्र अति ही, तीक्ष्णधारी दुरासद ।
धारण किए दुर्विदग्धों के, करे शीश झटिति पृथक् ॥५९॥
अन्वयार्थ : [अत्यंतनिशितधारं दुरासदं] अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला, दुःसाध्य [जिनवरस्य नयचक्रम्] जिनेन्द्र-भगवान का नयचक्र [धार्यमाणं] धारण करने पर [दुर्विदग्धानाम्] मिथ्याज्ञानी पुरुष के [मूर्धानं झटिति] मस्तक को तुरन्त ही [खण्डयति] खण्ड-खण्ड कर देता

है ।

हिंसा-त्याग का उपदेश

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥60॥
परमार्थ से हिंसा रु हिंसक, हिंस्य हिंसाफल सभी ।
को जान संवर उद्यमी, निज यथाशक्ति तज सभी ॥६०॥
अन्वयार्थ : [हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि] हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल [अवबुध्य तत्त्वेन] सम्यक-प्रकार जानकर [नित्यं अवगूहमानै:] निरन्तर गुप्त रहकर [निजशक्त्या] यथा-शक्ति [हिंसा त्यज्यतां] हिंसा छोड़नी चाहिए ।

हिंसा-त्याग में प्रथम क्या करना?

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥61॥
नित उदुम्बर फल पाँच, मदिरा माँस मधु को यत्न से ।
छोड़ें सभी सबसे प्रथम ही, हिंसात्यागेच्छु इन्हें ॥६१॥
अन्वयार्थ : [हिंसाव्युपरतिकामै प्रथममेव] हिंसा-त्याग के इच्छुक पुरुषों को प्रथम ही [यत्नेन मद्यं मांसं क्षौद्रं] यत्नपूर्वक शराब, मांस, मधु/शहद और [पञ्चोदुम्बरफलानि] पाँच उदुम्बर फल [मोक्तव्यानि] छोड़ देना चाहिए ।

मद्य के दोष

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥62॥
नित मद्य से मन मुग्धता, मोहितमनी भूले धरम ।
हो धर्म विस्मृत जीव हिंसा, में निशंकित प्रवर्तित ॥६२॥
अन्वयार्थ : [मद्यं मनोमोहयति] मदिरा मन को मोहित करती है और [मोहितचित्त: तु धर्मम् विस्मरति] मोहित चित्त पुरुष तो धर्म को भूल जाता है तथा [विस्मृतधर्मा जीव: अविशंकम्] धर्म को भूला हुआ जीव नि:शंक-निडर होकर [हिंसां आचरति] हिंसा का आचरण करता है ।

मदिरा से हिंसा कैसे?

रसजानां बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥63॥
बहु रसज जीवों की सुयोनि, मद्य मानी गई है ।
यों मद्य सेवी के सतत हिंसा सुनिश्चित नियत है ॥६३॥
अन्वयार्थ : [च मद्यं बहूनां] और मदिरा बहुत [रसजानां जीवानां] रस से उत्पन्न हुए जीवों का [योनि: इष्यते] उत्पत्ति स्थान माना जाता है; [मद्यं भजतां तेषां] मदिरा का सेवन करता है, उसके [हिंसा अवश्यम् संजायते] हिंसा अवश्य ही होती है ।

भाव-मदिरा पान

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि चसरकसन्निहिताः ॥64॥
नित मान हास्य अरति जुगुप्सा, शोक भय कामादि सब ।
हिंसा के ही पर्यायवाची, मद्य के अति ही निकट ॥६४॥

अन्वयार्थ : [च अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्या:] और अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि [हिंसाया: पर्याया:] हिंसा के पर्यायवाची हैं और [सर्वेऽपि सरकसन्निहिता:] यह सभी मदिरा के निकटवर्ती हैं ।

मांस के दोष

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥65॥
नित जीवघात बिना नहीं, है माँस उत्पत्ति कभी ।
यों माँसभक्षी को सतत, अनिवार्य हिंसा ही कही ॥६५॥

अन्वयार्थ : [यस्मात् प्राणिविघाताम् विना] क्योंकि प्राणियों का घात किए बिना [मांसस्य उत्पत्ति: न इष्यते] मांस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती [तस्मात् मांसं भजत:] इसलिए मांसभक्षी को [अनिवारिता हिंसा प्रसरति] अनिवार्यरूप से हिंसा फैलती है ।

स्वयं मरे हुए जीव के भक्षण में दोष

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥66॥
स्वयमेव मृत भैंसा बलद, आदि का माँस भि सदा ही ।
स्व-आश्रयी सम्मूर्छनों के, मथन से हिंसामयी ॥६६॥

अन्वयार्थ : [यदपि किल] यद्यपि यह सत्य है कि [स्वयमेव मृतस्य] अपने आप ही मरे हुए [महिषवृषभादे: मांसं भवति] भैंस, बैल इत्यादि का मांस होता है परन्तु [तत्रापि] वहाँ भी [तदाश्रितनिगोत-निर्मथनात्] उसके आश्रय रहनेवाले उसी जाति के निगोद जीवों के मन्थन से [हिंसा भवति] हिंसा होती है ।

मांस में निगोद जीव की उत्पत्ति

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥67॥
कच्चे पके पकते हुए भी, माँस खण्डों में सदा ।
उस जाति के सम्मूर्छन, उत्पन्न होते हैं सदा ॥६७॥

अन्वयार्थ : [आमासु पक्वासु अपि] कच्ची, पक्की तथा [विपच्यमानासु अपि] अध्-पकी भी [मांसपेशीषु तज्जातीनां] मांसपेशियों में उसी जाति के [निगोतानाम् सातत्येन उत्पाद:] निगोद जीवों का निरन्तर उत्पाद होता है ।

उपसंहार

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥68॥
कच्चे व पक्के माँसखण्डों, को छुए भक्षण करे ।
वह सतत संचित विविध जीवों, पिण्ड की हत्या करे ॥६८॥

अन्वयार्थ : [य: आमां वा पक्वां] जो कच्ची अथवा अग्नि में पकी हुई [पिशितपेशीम् खादति] मांस की पेशी को खाता है [वा स्पृशति] अथवा छूता है [स: सततनिचितं] वह पुरुष निरन्तर इकट्ठे हुए [बहुजीवकोटीनाम्] अनेक जाति के जीव समूह के [पिण्डं निहन्ति] पिण्ड का घात करता है ।

मधु के दोष

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके ।

भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥69॥
है मधु की इक बूँद भी, प्राय: मधूकर घातमय ।
जो मूढ़ सेवन करे मधु का, महा हिंसक सदा वह ॥६९॥
अन्वयार्थ : [लोके मधुशकलमपि] इस लोक में मधु की एक बूँद भी [प्राय: मधुकरहिंसात्मकं] बहुत करके मधुकर-भौरों की अथवा मधुमक्खियों की हिंसास्वरूप [भवति य: मूढधीक:] होती है, इसलिए जो मूर्खबुद्धि [मधु भजति] मधु का भक्षण करता है, [स: अत्यन्तं हिंसक:] वह अत्यन्त हिंसाक है ।

मधु जीवों का उत्पत्ति स्थान

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात् ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥70॥
जो कपट से मधु छत्र से, स्वयमेव गिरते मधु को ।
लेता वहाँ भी तदाश्रित जीव घात से हिंसा हि हो ॥७०॥
अन्वयार्थ : [य: छलेन वा] जो कोई कपट से अथवा [गोलात् स्वयमेव विगलितम्] मधुछत्ता में से अपने आप टपका हुआ [मधु गृह्णीयात्] मधु ग्रहण करता है, [तत्रापि तदाश्रय प्राणिनाम्] वहाँ भी उसके आश्रयभूत जन्तुओं के [घातात् हिंसा भवति] घात से हिंसा होती है ।

समुच्च-रूप से त्याग

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥71॥
नित महा विकृतिमय मधु, नवनीत मदिरा माँस का ।
सेवन करें नहिं व्रती, क्योंकि रहें तद्वत् जिव सदा ॥७१॥
अन्वयार्थ : [मधु मद्यं नवनीतं च पिशितं] शहद, मदिरा, मक्खन और मांस [महाविकृतय: ता:] महान विकार-रूप इन चारों पदार्थों को [व्रतिना न वल्भ्यन्ते] व्रती पुरुष भक्षण न करे; [तत्र तद्वर्णा जन्तव:] उन वस्तुओं में उस जाति के उसी वर्ण के धारी जीव रहते हैं ।

पांच उदंबर फल के दोष

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥72॥
अंजीर ऊमर कठूमर बड़, पीपलीफल त्रसों की ।
योनि सदा ही अत: सेवन, से सदा हिंसा कही ॥७२॥
अन्वयार्थ : [उदुम्बरयुग्मं] ऊमर, कठूमर [प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि] पाकर (अंजीर), बड़ के फल और पीपल वृक्ष के फल [त्रसजीवानां योनि:] त्रस जीवों के उत्पत्ति-स्थान हैं, [तस्मात् तद्भक्षणे] इसलिए उनके भक्षण से [तेषां हिंसा] उनकी हिंसा होती है ।

सुखाकर खाने में भी दोष

यानि तु पुनर्भवेयुःकालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्ट रागादिरुपा स्यात् ॥73॥
जब काल पा हो शुष्क यद्यपि, त्रस रहित हो गए वे ।
पर तीव्र रागादिमयी हिंसा सदा उन ग्रहण से ॥७३॥
अन्वयार्थ : [तु पुन: यानि] और फिर यह (पाँच उदुम्बर) [शुष्कानि कालोच्छिन्नत्रसाणि] सूखे हुए समय बीतने पर त्रस-रहित [भवेयु: तान्यपि] हो गए हों तब भी [भजत: विशिष्टरागादिरूपा] भक्षण करनेवाले को विशेष रागादिरूप [हिंसा स्यात्] हिंसा होती है ।

उपसंहार

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥74॥
अनिष्ट दुस्तर घोर पाप, मयी ये आठों छोड़कर ।
हो शुद्धधी जिनधर्म के, उपदेश का है पात्र तब ॥७४॥

अन्वयार्थ : [अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि] दु:खदायक दुस्तर और पाप के स्थान [अमूनि अष्टा परिवर्ज्य] ऐसे आठों का परित्याग करके [शुद्धधिय: जिनधर्मदर्शनाया:] निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जैन-धर्म के उपदेश के [पात्राणि भवन्ति] पात्र होते हैं ।

त्याग के प्रकार

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥75॥
नित मान्य है उत्सर्ग त्याग, सदा वचन मन काय कृत ।
कारित अनुमत भेद नौ से, त्याग अपवादी विविध ॥७५॥

अन्वयार्थ : [औत्सर्गिकी निवृत्ति:] उत्सर्गरूप निवृत्ति अर्थात् सामान्य त्याग [कृतकारितअनुमननै:] कृत, कारित और अनुमोदनारूप [वाक्कायनोभि:] मन, वचन और काय से [नवधा इष्यते] नव प्रकार से माना गया है [तु एषा] और यह [अपवादिकी विचित्ररूपा] अपवादरूप निवृत्ति अनेकरूप है ।

सर्वथा और एकदेश त्याग

धर्ममहिंसारूपं संश्रृण्वन्तोपि ये परित्यक्तुम ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥76॥
इस अहिंसामय धर्म को, सुन भी यदि असमर्थ हैं ।
जो घात थावर छोड़ने, त्रस जीव हिंसा छोड़ दें ॥७६॥

अन्वयार्थ : [ये अहिंसारूपं] जो जीव अहिंसारूप [धर्मं संश्रृण्वन्त: अपि] धर्म को भले प्रकार सुनकर भी [स्थावर हिंसां परित्युक्तम्] स्थावर जीवों की हिंसा छोड़ने को [असहा: ते अपि] असमर्थ हैं, वे जीव भी [त्रसहिंसां मुञ्चन्तु] त्रस जीवों की हिंसा त्याग दें ।

स्थावर हिंसा में भी विवेक

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥77॥
नत योग्य विषयों में प्रवर्तित, गृही को अनिवार्यतम ।
अत्यल्प थावर घात बस, हैं शेष हिंसा त्याज्य सब ॥७७॥

अन्वयार्थ : [सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्] इन्द्रिय-विषयों को न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले [गृहिणाम्] गृहस्थों को [स्तोकैकेन्द्रियघातात्] अल्प एकेन्द्रिय के घात के अतिरिक्त [शेषस्थावरमारणविरमणमपि] बाकी के स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों के मारने का त्याग भी [करणीयम् भवति] करने योग्य है ।

दूसरों को देखकर व्यथित न हो

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा ।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकृलैर्न भवितव्यम् ॥78॥
है अहिंसा उत्तम रसायन, मोक्ष हेतुभूत पा ।

होना नहीं आकुल असंगत, देख वर्तन अज्ञ का ॥७८॥

अन्वयार्थ : [अमृतत्त्वहेतुभूतं] अमृत अर्थात् मोक्ष का कारणभूत [परमं अहिंसारसायनं लब्ध्वा] उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन प्राप्त करके [बालिशानां असमञ्जसम्] अज्ञानी जीवों का असंगत वर्तन [अवलोक्य आकुलै: न भवितव्यम्] देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिए ।

धर्म के निमित्त हिंसा में दोष

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।

इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥79॥

भगवद् धरम अति सूक्ष्म, हिंसा धर्म हेतु उचित है ।

यों भ्रमित धर्मी हो कभी भी, जीव घात नहीं करे ॥७९॥

अन्वयार्थ : [भगवद्धर्म: सूक्ष्म:] भगवान का कहा हुआ धर्म बहुत बारीक है, इसलिए [धर्मार्थं हिंसने] धर्म के निमित्त से हिंसा करने में [दोष: नास्ति] दोष नहीं है [इति धर्ममुग्धहृदयै:] ऐसा धर्ममूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हृदयवाला [भूत्वा जातु] होकर कभी भी [शरीरिण: न हिंस्या:] शरीरधारी जीवों को नहीं मारना चाहिए ।

देवों के लिए हिंसा का निषेध

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।

इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्या ॥80॥

नत धर्म देवों से प्रगट, यों उन्हें देय यहाँ सभी ।

इस दुर्विवेकी मति को, पा नहिं करो हिंसा कभी ॥८०॥

अन्वयार्थ : [हि धर्म: देवताभ्य: प्रभवति] निश्चय से धर्म देवों से उत्पन्न होता है, इसलिए [इह ताभ्य: सर्वं प्रदेयम्] इस लोक में उनके लिये सभी कुछ दे देना चाहिए [इति दुर्विवेककलितां] ऐसी अविवेक से ग्रसित [धिषणां प्राप्य] बुद्धि प्राप्त करके [देहिन: न हिंस्या:] शरीरधारी जीवों को नहीं मारना चाहिए ।

गुरुओं के लिए हिंसा का निषेध

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।

इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥81॥

सब पूज्य हेतु अजादि के, घात में कुछ दोष नहिं ।

यों सोच अतिथि हेतु भी, नहिं जीवघात करो कभी ॥८१॥

अन्वयार्थ : [पूज्यनिमित्तं छागादीनां] पूज्य पुरुषों के लिये बकरा वगैरह जीवों को [घाते क: अपि दोष: नास्ति] घात करने में कोई भी दोष नहीं है [इति संप्रधार्य अतिथये] ऐसा विचारकर अतिथि के लिए [सत्त्वसंज्ञपनम् न कार्यम्] जीवों का घात नहीं करना चाहिए ।

एकेंद्रिय और बहु-इन्द्रिय जीव घात में विवेक

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।

इत्याकलय्य कार्यंनमहासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥82॥

बहु जीव घातोत्पन्न, भोजन से भला इक जीव की ।

हिंसामयी भोजन विचार, करो न हिंसा बड़े की ॥८२॥

अन्वयार्थ : [बहुसत्त्वघातजनितान्] बहुत जीवों के घात से उपजे [अशनात् एकसत्त्वघातोत्थम्] भोजन की अपेक्षा एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन [वरम् इति आकलय्य] अच्छा है, ऐसा विचारकर [जातु महासत्त्वस्य] कभी भी बड़े त्रस जीव का [हिंसनं न कार्यम्] घात नहीं करना चाहिए ।

हिंसक जीवों की भी हिंसा न करे

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन ।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्त्रसत्त्वानाम् ॥83॥
इस एक के ही घात से, बहु जीव रक्षा नित्य ही ।
यों मान हिंसक जीव की भी, करो हिंसा नहिं कभी ॥८३॥

अन्वयार्थ : [अस्य एकस्य एव जीवहरणेन] इस एक ही जीव-घात करने से [बहूनाम् रक्षा भवति] बहुत जीवों की रक्षा होती है', [इति मत्वा हिंस्रसत्त्वानाम्] ऐसा मानकर हिंसक जीवों की भी [हिंसनं न कर्त्तव्यम्] हिंसा नहीं करना चाहिए ।

हिंसक जीवों को दया वश भी न मारे

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्त्राः ॥84॥
बहु जीव घाती घोर पाप, करें यदि जीवित रहें ।
यों करो हिंसक जीव की भी, नहीं हिंसा दया से ॥८४॥

अन्वयार्थ : [बहुसत्त्वघातिन: अमी] 'बहुत जीवों के घातक यह जीव [जीवन्त: गुरु पापम् उपार्जयन्ति] जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपार्जित करेंगे' [इति अनुकम्पां कृत्वा] इस प्रकार की दया करके [हिंस्रा: शरीरिण:] हिंसक जीवों को [न हिंसनीया:] नहीं मारना चाहिए ।

दुखी जीवों को भी न मारे

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम् ।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥85॥
अति दु:ख पीड़ित शीघ्र ही, सब दुखों से छूटें सदा ।
यों वासना असि ले दुखी को, भी कभी नहिं मारना ॥८५॥

अन्वयार्थ : [तु बहुदु:खासंज्ञपिता:] और 'अनेक दु:खों से पीड़ित जीव [अचिरेण दु:खविच्छित्तम् प्रयान्ति] थोड़े ही समय में दु:खों का अन्त पा जावेंगे' [इति वासनाकृपाणीं आदाय] इस प्रकार की वासना अथवा विचाररूपी तलवार लेकर [दु:खिन: अपि] दु:खी जीवों को भी [न हन्तव्या:] नहीं मारना चाहिए ।

सुखी जीवों को भी न मारे

कृच्छ्रेरण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव ।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥86॥
सुख प्राप्त होता कष्ट से, सुख युक्त मरते सुखी ही ।
पर लोक में यों कुतर्क असि से, सुखी को मारो नहीं ॥८६॥

अन्वयार्थ : [सुखावाप्ति: कृच्छ्रेण] 'सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है; अत: [हता: सुखिन:] मारने में आए हुए सुखी जीव [सुखिन: एव भवन्ति] परलोक में सुखी ही होंगे', [इति तर्कमण्डलाग्र:] इस प्रकार कुतर्क की तलवार [सुखिनां घाताय नादेय:] सुखी जीवों के घात को न अंगीकारे ।

गुरु को समाधि के निमित्त भी न मारे

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्यभूयसोऽभ्यासात् ।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषिता ॥87॥
पा अत्यधिक अभ्यास से, हेतु सुगति रस समाधि ।

युत निज गुरु हिंसा करे, नहिं सुधर्मार्थी शिष्य भी ॥८७॥

अन्वयार्थ : [सुधर्मं अभिलषिता शिष्येण] सत्यधर्म के अभिलाषी शिष्य द्वारा [भूयस: अभ्यासात्] अधिक अभ्यास से [उपलब्धि सुगतिसाधनसमाधिसारस्य] ज्ञान और सुगति करने में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करनेवाले [स्वगुरो: शिर: न कर्त्तनीयम्] अपने गुरु का मस्तक नहीं काटना चाहिए ।

मिथ्या मत प्रेरित मुक्ति के निमित्त भी न मारे

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ॥88॥
घट नष्ट खग शिव शीघ्र, यों मानों नहीं ये खारपटिक ।
जो शिष्य विश्वसनीयता, वश दिखा कम धन चाह नित ॥८८॥

अन्वयार्थ : [धनलवपिपासितानां] थोड़े धन का लोभी और [विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्] शिष्यों को विश्वास उत्पन्न करने के लिये दर्शानेवाला [खारपटिकानाम्] खार-पटिकों का [झटितिघटचटकमोक्षं] शीघ्र घड़ा फूटने से चिड़िया के मोक्ष की तरह मोक्ष का [नैवश्रद्धेयं] श्रद्धान नहीं करना चाहिए ।

दयावश स्वयं का भी घात न करे

द्रष्टजाापरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् ।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ॥89॥
अति देख भोजन हेतु आए, क्षुधित को निज माँस ही ।
दें दान ऐसा सोच तुम, निज आत्मघात करो नहीं ॥८९॥

अन्वयार्थ : [च अशनाय] और भोजन के लिये [पुरस्तात् आयान्तम्] पास आये हुए [अपरं क्षामकुक्षिम् दृष्ट्वा] अन्य भूखे पुरुष को देखकर [निजमांसदानरभसात्] अपने शरीर का माँस देने की उत्सुकता से [आत्मापि न आलभनीय:] अपना भी घात नहीं करना चाहिए ।

उपसंहार

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून् ।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमति ॥90॥
नय भेद बहुज्ञाता गुरु, सेवक रहस्य जिनमत विदित ।
निर्मलमति ले अहिंसा, आश्रय नहीं हो विमोहित ॥९०॥

अन्वयार्थ : [नयभंगविशारदान् गुरून्] नय के भंगों को जानने में प्रवीण गुरुओं की [उपास्य विदितजिनमतरहस्य:] उपासना करके जैनमत का रहस्य जाननेवाला [को नाम विशुद्धमति:] ऐसा कौन निर्मल बुद्धिधारी है जो [अहिंसां श्रयन्] अहिंसा का आश्रय लेकर [मोहं विशति] मूढ़ता को प्राप्त होवे?

सत्य-व्रत का स्वरूप

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥91॥
यह जो प्रमादी योग से, कुछ भी असत् अभिधान है ।
जानो उसे नित अनृत, उसके चार भेद यहाँ कहें ॥९१॥

अन्वयार्थ : [यत् किमपि प्रमादयोगात्] जो कुछ प्रमाद के योग से [इदं असदभिधानं विधीयते] यह (स्व-पर को हानिकारक) असतवचन कहने में आता है, [तत् अनृतं अपि] उसे निश्चय से असत्य [विज्ञेयम् तद्भेदा:] जानना चाहिए उसके भेद [चत्वार: सन्ति] चार हैं ।

असत्य - प्रथम भेद

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥92॥
निज द्रव्य क्षेत्र रु काल भाव, से सत्य वस्तु का किया ।
जिसमें निषेध विलोप-सत, पहला नहीं देवदत्त कहा ॥९२॥

अन्वयार्थ : [यस्मिन् स्वक्षेत्रकालभावै:] जिसमें अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से [सत्अपि वस्तु निषिध्यते] विद्यमान होने पर भी वस्तु का निषेध करने में आता है, [तत् प्रथमम् असत्यं स्यात्] वह प्रथम असत्य है [यथा अत्र देवदत्त: नास्ति] जैसे 'यहाँ देवदत्त नहीं है' ।

असत्य - द्वितीय भेद

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यतेद्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥93॥
पर द्रव्य क्षेत्र रु काल भाव से, असत् वस्तुरूप का ।
प्रगटीकरण है असद्, उद्भावन द्वितीय ज्यों घट यहाँ ॥९३॥

अन्वयार्थ : [हि यत्र] निश्चय से जिसमें [तै परक्षेत्रकालभावै:] उन परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से [असत् अपि] अविद्यमान होने पर भी [वस्तुरूपं उद्भाव्यते] वस्तु का स्वरूप प्रगट करने में आवे [तत् द्वितीयं अनृतम् स्यात्] वह दूसरा असत्य है [यथा अस्मिन् घट: अस्ति] जैसे 'यहाँ घड़ा है' ।

असत्य - तृतीय भेद

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः ॥94॥
स्वरूप से सत् वस्तु को, पररूप से जिसमें कहें ।
है अन्यथा प्ररूपण तृतिय, ज्यों बैल को घोड़ा कहें ॥९४॥

अन्वयार्थ : [च यस्मिन् स्वरूपात्] और जिसमें अपने चतुष्टय से [सत्अपि वस्तु पररूपेण] विद्यमान होने पर भी पदार्थ अन्य स्वरूप से [अभिधीयते इदं] कहने में आता है उसे यह [तृतीयं अनृतं विज्ञेयं] तीसरा असत्य जानो [यथा गौ: अश्व: इति] जैसे 'बैल घोड़ा है' ।

असत्य - चतुर्थ भेद

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतिमदमनृतं तुरीयं तु ॥95॥
गर्हित रु पापसहित अप्रिय, वचन जो सामान्य से ।
त्रय रूप मानों यह चतुर्थ, अनृत है जिनने कहे ॥९५॥

अन्वयार्थ : [तु इदं तुरीयं अनृतं] और यह चौथा असत्य [सामान्येन गर्हितं] सामान्यरूप से गर्हित [अवद्यसंयुतम् अपि अप्रियं] पाप-सहित और अप्रिय इस तरह [त्रेधा मतम्] तीन प्रकार का माना गया है, [यत् वचनरूपं भवति] जो कि वचनरूप है ।

निन्द्य वचन

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥96॥
पैशून्य निन्दायुत हँसी, कर्कश प्रलाप सुसंशयी ।
उत्सूत्रवाणी अन्य भी यों कहें गर्हित ये सभी ॥९६॥

अन्वयार्थ : [पैशून्यहासगर्भं कर्कशं] दुष्टता अथवा निन्दारूप हास्यवाला, कठोर [असमञ्जसं च प्रलपितं] मिथ्या-श्रद्धानवाला और प्रलापरूप [बकवाद अन्यदपि] तथा और भी [यत् उत्सूत्रं] जो शास्त्र-विरुद्ध वचन है [तत्सर्वं गर्हितं गदितम्] वह सभी निन्द्य-वचन कहा गया है ।

पाप-युक्त वचन

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥97॥
छेदन भेदन मारने के, खीचने व्यापार के ।
नित चौर्य आदि के वचन, हिंसादिकर सावद्य हैं ॥९७॥
अन्वयार्थ : [यत्] जो [छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि] छेदन, भेदन, मारण, शोषण, व्यापार या चोरी आदि के वचन हैं [तत् सावद्यं] वे सब पाप-युक्त वचन हैं [यस्मात् प्राणिवधाद्या: प्रवर्तन्ते] क्योंकि इनके द्वारा प्राणी हिंसा आदि पापरूप प्रवर्तन करते हैं ।

अप्रिय असत्य

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम् ।
यदपरमपि तापकरं परस्यतत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥98॥
नित अरति भीति खेदकारक, वैर शोक कलह करें ।
हों और भी संतापकारक, आदि सब अप्रिय कहें ॥९८॥
अन्वयार्थ : [यत् परस्य अरतिकरं] जो वचन दूसरों को अप्रीतिकारक, [भीतिकरं खेदकरं] भयकारक, खेदकारक [वैरशोककलहकरं अपरमपि] वैर, शोक तथा कलहकारक हो और तो अन्य जो भी सन्तापकारक हो [तत् सर्वं अप्रियं ज्ञेयम्] वह सर्व ही अप्रिय जानो ।

असत्य वचन हिंसात्मक

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् ।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥99॥
नित है प्रमादी योग हेतु, मात्र ही इन सभी में ।
इससे सतत हिंसा हुई, है मान अनृत वचन में ॥९९॥
अन्वयार्थ : [यत् अस्मिन् सर्वस्मिन्नपि] चूँकि इन सभी वचनों में [प्रमत्त योगैकहेतुकथनं] प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहने में आया है [तस्मात् अनृतवचने] इसलिए असत्य वचन में [अपि हिंसा नियतं समवतरति] भी हिंसा निश्चितरूप से आती है ।

प्रमत्त योग द्वारा असत्य हिंसात्मक

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥100॥
कहते प्रमादी योग हेतु, सभी मिथ्या वचन का ।
यों नहीं कहते असत् हैं, वचनादि हेयादेय का ॥१००॥
अन्वयार्थ : [सकलवितथवचनानाम्] समस्त झूठ वचनों का [प्रमत्तयोगे हेतौ] प्रामद-सहित योग हेतु [निर्दिष्टे सति] निर्दिष्ट करने में आया होने से [हेयानुष्ठानादे:] हेय-उपादेय आदि अनुष्ठानों का [अनुवदनं असत्यं न भवति] कहना झूठ नहीं है ।

इसके त्याग का प्रकार

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम् ।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥101॥

भोगोपभोग-निमित्त सावद्य, वचन तज सकते नहीं ।
तो शेष अनृत वचन को तो, तजो नित सर्वत्र ही ॥१०१॥
अन्वयार्थ : [ये भोगोपभोगसाधनमात्रं] जो भोग-उपभोग के साधन-मात्र [सावद्यम् मोक्तुम् अक्षमा:] सावद्यवचन छोड़ने में [ते अपि] असमर्थ हैं वे भी [शेषम् समस्तमपि] बाकी के सभी [अनृतं नित्यमेव मुञ्चन्तु] असत्य भाषण का निरन्तर त्याग करें ।

चोरी का वर्णन

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयं स्तयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥102॥
जो नित प्रमादी योग से, बिन दिए वस्तु का ग्रहण ।
है जान चोरी मान हिंसा, घात कारण जिन वचन ॥१०२॥
अन्वयार्थ : [यत् प्रमत्तयोगात्] जो प्रमाद के योग से [अवितीर्णस्य परिग्रहस्य ग्रहणं] बिना दिये (स्वर्ण, वस्त्रादि) परिग्रह का ग्रहण करना है [तत् स्तेयं प्रत्येयं] उसे चोरी जानना चाहिए [च सा एव] और वही [वधस्य हेतुत्वात् हिंसा] वध का कारण होने से हिंसा है ।

चोरी प्रगटरूप से हिंसा है

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चरा: पुंसाम् ।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥103॥
जो धन पदार्थों को हरे, वह प्राण ही उसके हरे ।
हैं क्योंकि बाहिज प्राण, **अर्थ**ादि नरों के यों कहें ॥१०३॥
अन्वयार्थ : [य: जन: यस्य जीव] जो मनुष्य जिस के [अर्था हरति] पदार्थों (धन) को हरता है [स: तस्य प्राणान् हरति] वह उसके प्राणों को हर लेता है, क्योंकि जगत में [ये एते अर्थानाम] जो यह धनादि पदार्थ
प्रसिद्ध हैं [एते पुंसां] वे सभी मनुष्यों के [बहिश्चरा: प्राणा: सन्ति] बाह्य प्राण हैं ।

हिंसा और चोरी में अव्याप्ति नहीं

हिंसाया: स्तेयस्य च नाव्याप्ति: सुघटमेव वा यस्मात् ।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यै: ॥104॥
स्तेय में हिंसा नहीं, अव्याप्ति, अपितु सुघट ही ।
क्योंकि पराए द्रव्य की, चोरी प्रमादी योग ही ॥१०४॥
अन्वयार्थ : [हिंसाया: च स्तेयस्य] हिंसा और चोरी में [अव्याप्ति: न] अव्याप्ति नहीं है [सा सुघटमेव] वहां हिंसा बराबर घटित होती है [यस्मात् अन्यै: स्वीकृतस्य] कारण कि दूसरे के द्वारा स्वीकृत की हुई [द्रव्यस्य ग्रहणे प्रमत्तयोग:] द्रव्य के ग्रहण में प्रमाद का योग है ।

हिंसा और चोरी में अतिव्याप्तिपना भी नहीं

नातिव्याप्तिश्च तयो: प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥105॥
नित वीतरागी के प्रमादी, योग नहिं अतिव्याप्ति नहिं ।
कर्मादि का है ग्रहण उनके, पर न हिंसा स्तेय नहिं ॥१०५॥
अन्वयार्थ : [च नीरागाणाम्] और वीतरागी पुरुषों के [प्रमत्तयोगैकारण-विरोधात्] प्रमत्तयोगरूप एक कारण के विरोध में [कर्म्मानुग्रहणे] द्रव्यकर्म नोकर्म की कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करने में [अपि स्तेयस्य] निश्चय से चोरी की [अविद्यमानत्वात्] अनुपस्थिति से [तयो:] उन दोनों (हिंसा और चोरी) में [अतिव्याप्ति: न] अतिव्याप्ति नहीं है ।

चोरी के त्याग का प्रकार

असमर्था ये कर्त्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् ।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥106॥
नित अन्य के कूपादि से, बिन दत्त नीरादि ग्रहण ।
यदि नहीं छोड़ सको तो छोड़ो, शेष सब बिन दे ग्रहण ॥१०६॥

अन्वयार्थ : [ये निपानतोयादिहरणविनिवृत्तम्] जो दूसरे के कुआँ, बावड़ी आदि जलाशयों का जल इत्यादि ग्रहण करने के त्याग [कर्त्तुम् असमर्था] करने में असमर्थ हैं [तै: अपि] उन्हें भी [अपरं समस्तं] अन्य सर्वं [अदत्तं नित्यम् परित्याज्यम्] बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण को हमेशा त्यागें ।

शील (अब्रह्म) का स्वरूप

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥107॥
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥108॥
जो राग वेद संयोग से, मैथुन कहा अब्रम्ह वह ।
सर्वत्र वध सद्भाव से, हिंसा वहाँ होती सतत ॥१०७॥
तिलयुत नली में शलाका, अति तप्त डालें ज्यों भुनें ।
त्यों योनि में स्थित अनेकों, जीव मैथुन में मरें ॥१०८॥

अन्वयार्थ : [यत् वेदरागयोगात्] जो वेद के रागरूप योग से [मैथुनं अभिधीयते] स्त्री-पुरुषों का सहवास कहा जाता है [तत् अब्रह्म] वह अब्रह्म है और [तत्र वधस्य] उस सहवास में प्राणिवध का [सर्वत्र सद्भावात्] सर्व स्थान में सद्भाव होने से [हिंसा अवतरति] हिंसा होती है । [यद्वत् तिलनाल्यां] जैसे तिल से भरी हुई नली में [तप्तायसि विनिहिते] गरम लोहे की शलाका डालने से [तिला: हिंस्यन्ते] तिल भुन जाते हैं [तद्वत् मैथुने योनौ] वैसे ही मैथुन के समय योनि में भी [बहवो जीवा: हिंस्यन्ते] बहुत से जीव मर जाते हैं ।

अनंगक्रीड़ा में हिंसा

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि ।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥109॥
वर्तें अनंग क्रीड़ादि में, जो वासना आधिक्य से ।
होती सदा हिंसा वहाँ, रागादि की उत्पत्ति से ॥१०९॥

अन्वयार्थ : [अपि मदनोद्रेकात्] तदुपरान्त काम की उत्कटता से [यत् किञ्चित् क्रियते] जो कुछ (अनंगरमणादि) अनंगक्रीड़ा की जाती है [तत्रापि रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्] उसमें भी रागादि की उत्पत्ति के कारण [हिंसा भवति] हिंसा होती है ।

कुशील के त्याग का क्रम

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात् ।
नि:शेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥110॥
जो मोहवश स्व स्त्री के, त्याग में असमर्थ हैं ।
वे शेष सब स्त्रिओं का, सेवन सदा ही त्याग दें ॥११०॥

अन्वयार्थ : [ये मोहात्] जो मोह-वश [निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं] अपनी विवाहिता स्त्री को ही छोड़ने में [हि न शक्नुवन्ति] निश्चय से समर्थ नहीं है [तै: नि:शेषशेषयोषिन्निवेषणं अपि] उन्हें बाकी की समस्त स्त्रियों का सेवन तो कदापि [न कार्यम्] नहीं करना चाहिए ।

परिग्रह पाप का स्वरूप

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्य: परिग्रहो ह्येष: ।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणाम: ॥111॥
जो मूर्छा मय भाव यह ही, परिग्रह यों जानना ।
नित मोहोदय से व्यक्त, ममता भाव मूर्छा मानना ॥

अन्वयार्थ : [इयं या मूर्च्छा नाम] यह जो मूर्च्छा है [एष: हि] इसे ही निश्चय से [परिग्रह: विज्ञातव्य:] परिग्रह जानो [तु मोहोदयात् उदीर्ण:] और मोह के उदय से उत्पन्न हुआ [ममत्वपरिणाम: मूर्च्छा] ममत्वरूप परिणाम ही मूर्च्छा है ।

ममत्व-परिणाम ही वास्तविक परिग्रह है

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्ति: परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्य: ॥112॥
नित परिग्रहता का सुलक्षण, मूर्छा विधिवत् घटित ।
यों अन्य संग बिना भी मूर्छावान नित परिग्रह सहित ॥

अन्वयार्थ : [परिग्रहत्वस्य] परिग्रहपने का [मूर्च्छालक्षणकरणात्] मूर्च्छा लक्षण करने से [व्याप्ति: सुघटा] व्याप्ति भले प्रकार से घटित होती है क्योंकि [शेषसंगेभ्य: विना अपि] अन्य परिग्रह बिना भी [मूर्च्छावान्] मूर्च्छा करनेवाला पुरुष [किल सग्रन्थ:] निश्चय से परिग्रही है ।

शंका-समाधान

यद्येयं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंग: ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्त्वम् ॥113॥
यदि मूर्छा ही परिग्रह तो, बाह्य परिग्रह कुछ नहीं ।
पर नहीं ऐसा क्योंकि वह, नित मूर्छा हेतु सभी ॥११३॥

अन्वयार्थ : [यदि एवं तदा परिग्रह:] यदि ऐसा है (मूर्च्छा ही परिग्रह होवे) तो परिग्रह [न खलु क: अपि बहिरंग] वास्तव में कोई भी नहीं बाहर में [यत: असौ] क्योंकि उसके (बाह्य परिग्रह के) [मूर्च्छानिमित्तत्त्वम्] मूर्च्छा के निमित्तपने का [नितरां धत्ते] अतिशयरूप से धारण है ।

अतिव्याप्ति-दोष परिहार

एवमतिव्याप्ति: स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥114॥
यदि बाह्य परिग्रह अतिव्याप्ति, कहो तो ऐसा नहीं ।
है क्योंकि कर्मादि ग्रहण, अकषायी के मूर्छा नहीं ॥११४॥

अन्वयार्थ : [एवं परिग्रहस्य] और बाह्य परिग्रह से [इति चेत्] इस प्रकार अगर [अतिव्याप्ति: स्यात्] अतिव्याप्ति सम्भव है [एवं न भवेत्] ऐसा नहीं होता [यस्मात् अकषायाणां] क्योंकि कषाय-रहित (वीतरागी) को [कर्मग्रहणे] कार्मणवर्गणा के ग्रहण में [मूर्च्छा नास्ति] मूर्च्छा नहीं है ।

परिग्रह के भेद

अतिसंक्षेपाद् द्विविध: स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च ।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥115॥
वह परिग्रह संक्षेप में, अंतरंग बहिरंग है द्विविध ।

है प्रथम चौदह भेदयुत, बहिरंग होता है द्विविध ॥११५॥

अन्वयार्थ : [स अतिसंक्षेपात्] वह (परिग्रह) अत्यन्त संक्षेप से [आभ्यन्तर: च बाह्य:] अन्तरंग और बहिरंग [द्विविध: भवेत्] दो प्रकार का है [च प्रथम: चतुर्दशविध:] और पहला (अन्तरंग परिग्रह) चौदह प्रकार का [तु द्वितीय:] तथा दूसरा (बहिरंग परिग्रह) [द्विविध: भवति] दो प्रकार का है ।

आभ्यन्तर परिग्रह के भेद

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषा: ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्था: ॥116॥
मिथ्यात्व चारों कषायें, त्रय वेदराग रति अरति ।
भय शोक हास्य रु जुगुप्सा, छह दोष चौदह प्रथम ही ॥११६॥

अन्वयार्थ : [मिथ्यात्ववेदरागा:] मिथ्यात्व, (स्त्री, पुरुष और नपुंसक) वेद का राग [तथैव च] इसी तरह [हास्यादय:] हास्यादि अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, यह [षड् दोषा: च] छह दोष और [चत्वार:] चार अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ (अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी और संज्वलन यह चार) [कषाया:] कषायभाव - ये [आभ्यन्तरा: ग्रन्था:] अन्तरंग परिग्रह हैं ।

बाह्य परिग्रह के दोनों भेद हिंसामय

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।
नैष: कदापि संग: सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ॥117॥
नित बाह्य परिग्रह द्विविध, चेतन अचेतन के भेद से ।
हैं सभी परिग्रह सर्वदा, सर्वत्र हिंसामय रहें ॥११७॥

अन्वयार्थ : [अथ बाह्यस्य परिग्रहस्य] इसके बाद बहिरंग परिग्रह के [निश्चित्तसचित्तौ द्वौ भेदो] अचित्त और सचित्त यह दो भेद हैं [एष: सर्व: अपि संग] यह समस्त परिग्रह [कदापि हिंसाम्] किसी भी समय हिंसा का [न अतिवर्तते] उल्लंघन नहीं करते (हिंसा रहित नहीं है) ।

हिंसा-अहिंसा का लक्षण

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्या: सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञा: ॥118॥
दोनों परिग्रह रहित ही, है अहिंसा सूचित करें ।
दोनों परिग्रह युक्त हिंसा, सूत्र ज्ञाता ऋषि कहें ॥११८॥

अन्वयार्थ : [जिनप्रवचनज्ञा: आचार्या:] जैन सिद्धान्त के ज्ञाता आचार्य [उभय-परिग्रहवर्जनं] दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को [अहिंसा इति] अहिंसा ऐसा और [द्विविध परिग्रहवहन] दोनों प्रकार के परिग्रह धारण करने को हिंसा ऐसा [सूचयन्ति] सूचित करते (कहते) हैं ।

दोनों परिग्रहों में हिंसा

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरंगसंगेषु ।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ॥119॥
नित परिणति हिंसामयी, से सिद्ध हिंसा परिग्रह ।
अन्तरंग मूर्छा बाह्य में, यों पूर्ण हिंसामयी यह ॥११९॥

अन्वयार्थ : [हिंसापर्यायत्वात्] हिंसा की पर्यायरूप होने से [अन्तरंगसंगेषु] अन्तरंग परिग्रहों में [हिंसा सिद्धा] हिंसा स्वयंसिद्ध है [तु बहिरंगेषु] और बहिरंग परिग्रहों में [मूर्च्छा एव] ममत्वपरिणाम ही [हिंसात्वम्] हिंसाभाव को [नियतम् प्रयातु] निश्चय से प्राप्त होता है ।

समान बाह्य अवस्था में ममत्व में असमानता

एवं न विशेष: स्यादुन्दुरुरिपुहरिणशावकादीनाम् ।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण ॥120॥
बिल्ली हरिण शिशु आदि में, यों कोई अन्तर न रहे ।
पर सदा अन्तर है वहाँ, उनके ममत्व विशेष से ॥१२०॥

अन्वयार्थ : [एवं] ऐसा (बहिरंग परिग्रह का ही नाम मूर्च्छा) हो तो [उन्दुरुरिपुहरिणशावकादीनाम्] बिल्ली और हिरण के बच्चे वगैरह में [विशेष: न स्यात्] कोई विशेषता न संभवे, परन्तु [एवं न भवति] ऐसा नहीं है, क्योंकि [मूर्च्छाविशेषेण] ममत्व-परिणामों की विशेषता से [तेषां] उस बिल्ली और हिरण के बच्चे इत्यादि जीवों में [विशेष:] विशेषता (समानता नहीं) है ।

ममत्व-मूर्च्छा में विशेषता

हरिततृणांकुरचारिणिमन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा ।
उन्दुरुनिकरोन्माथिनि माजरि सैव जायते तीव्रा ॥121॥
नित हरे तृणभक्षी हरिण, शिशु में रहे मूर्छा कमी ।
पर अनेकों उन्दुरुभक्षी, बिल्ली मूर्छा तीव्र ही ॥१२१॥

अन्वयार्थ : [हरिततृणाङ्कुरचारिणि] हरी घास के अंकुर खानेवाले [मृगशावके] हिरण के बच्चे में [मूर्च्छा] मूर्च्छा [मन्दा] मन्द [भवति] होती है और [स एव] वही मूर्छा [उन्दुरुनिकरोन्माथिनि] चूहों के समूह का उन्मथन करनेवाली [माजरि] बिल्ली में [तीव्रा] तीव्र [जायते] होती है ।

इस प्रयोजन की सिद्धि

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् ।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव ॥122॥
माधुर्य प्रीति भेद ज्यों, पय खाण्ड में निर्बाध ही ।
है स्वत: सिद्ध विशिष्ट कारण, से करम वैशिष्ट्य ही ॥१२२॥

अन्वयार्थ : [औधस्यखण्डयो:] दूध और खांड में [माधुर्य्यप्रीतिभेद: इव] मधुरता के प्रीतिभेद की तरह [इह] इस लोक में [हि] निश्चय से [कारणविशेषात्] कारण की विशेषता से [कार्यविशेष:] कार्य की विशेषता [निर्बाध] बाधारहित [संसिध्येत्] भले प्रकार से सिद्ध होती है ।

उदाहरण

माधुर्यप्रीति: किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥123॥
हो अल्प मीठे दूध में नित, अल्प प्रीति जग कहे ।
अत्यन्त मीठी खाण्ड में हो, अधिक प्रीति जान ले ॥१२३॥

अन्वयार्थ : [किल मन्दमाधुर्ये] निश्चय से थोड़ी मिठासवाले [दुग्धे माधुर्यप्रीति:] दूध में मिठास की रुचि [मन्दा एव] थोड़ी ही [व्यपदिश्यते] कहने में आती है और [स एव] वही मिठास की रुचि [उत्कटमाधुर्ये] अत्यन्त मिठासवाली [खण्डे तीव्रा] खाँड में अधिक कहने में आती है ।

परिग्रह त्याग करने का उपाय

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम् ।
सम्यग्दर्शनचौरा: प्रथमकषायाश्च चत्वार: ॥124॥
तत्त्वार्थ की श्रद्धारहित, मिथ्यात्व पहला चार हैं ।

क्रोधादि अनन्तानुबन्धि, कषाय समकित चोर हैं ॥१२४॥
अन्वयार्थ : [प्रथमम् एव तत्त्वार्थाश्रद्धाने] पहले ही तत्त्वार्थ के अश्रद्धान में जिसने [निर्युक्तं मिथ्यात्वं] संयुक्त किया है ऐसा मिथ्यात्व [च चत्वार: प्रथमकषाया:] और चार पहली कषाय (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ) [सम्यग्दर्शनचौरा:] सम्यग्दर्शन की चोर हैं ।

अवशेष भेद

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायात: ।
नियतं ते हि कषाया: देशचरित्रं निरुन्धन्ति ॥125॥
ये और अप्रत्याख्यानावरण तज अणुव्रति हुआ ।
है क्योंकि यह कषाय, रोके देशचारित्र जिन कहा ॥१२५॥
अन्वयार्थ : [च द्वितीयान्] और दूसरी कषाय [अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया-लोभ] को [प्रविहाय देशचरित्रस्य] छोड़कर देशचारित्र के [सन्मुखायात: हि] सन्मुख आता है कारण कि [ते कषाया: नियतं] वे कषाय निश्चितरूप से [देशचरित्रं निरुन्धन्ति] एकदेशचारित्र को रोकतीं हैं ।
नजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम् ।
कर्त्तव्य: परिहारो मार्दवशौचादि भावनया ॥126॥
नित मार्दव शौचादि भावों, पूर्वक निजशक्ति से ।
अवशेष सब ही अन्तरंग, परिग्रहों को छोड़ दे ॥१२६॥
अन्वयार्थ : इसलिए [निजशक्त्या] अपनी शक्ति से [मार्दवशौचादिभावनया] मार्दव, शौच, संयमादि दशलक्षण धर्म द्वारा [शेषाणां] अवशेष [सर्वेषाम्] सभी [अन्तरङ्गसङ्गानाम्] अन्तरंग परिग्रहों का [परिहार:] त्याग [कर्त्तव्य:] करना चाहिए ।

बाह्य परिग्रह त्याग का क्रम

बहिरङ्गादपि सङ्गात् यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचित: ।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥127॥
हो बाह्य परिग्रह से सदा, अनुचित असंयम व्यक्त ही ।
अतएव छोड़ो नित उसे, चेतन अचेतन सभी ही ॥१२७॥
अन्वयार्थ : [वा] तथा [तम्] उस बाह्य परिग्रह को [अचित्तं] भले ही वह अचेतन हो [वा] या [सचित्तं] सचेतन हो [अशेषं] सम्पूर्णरूप से [परिवर्जयेत्] छोड़ देना चाहिए [यस्मात्] कारण कि [बहिरङ्गात्] बहिरङ्ग [सङ्गात्] परिग्रह से [अपि] भी [अनुचित:] अयोग्य अथवा निन्द्य [असंयम:] असंयम [प्रभवति] होता है ।

सर्वदेश त्याग में अशक्य एकदेश त्याग करें

योऽपि न शक्यस्त्युक्तं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि ।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं ॥128॥
धन धान्य नर घर वैभवादि, छोड़ने का बल नहीं ।
तो करो कम नित ही उन्हें, है तत्त्व निवृत्तिरूप ही ॥१२८॥
अन्वयार्थ : [अपि] और [य:] जो [धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि:] धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदा इत्यादि परिग्रह [त्यक्तुम्] सर्वथा छोड़ना [न शक्य:] शक्य न हो, [स:] तो उसे [अपि] भी [तनू] न्यून [करणीय:] कर देना चाहिए [यत:] कारण कि [निवृत्तिरूपं] त्यागरूप ही [तत्त्वम्] वस्तु का स्वरूप है ।

रात्रि भोजन त्याग का वर्णन

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।

हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥129॥
है सुनिश्चित हिंसा उसे, जो रात में भोजन करे ।
अतएव हिंसा विरत है तो, रात-भोजन छोड़ दे ॥१२९॥
अन्वयार्थ : [यस्मात्] कारण कि [रात्रौ] रात में [भुञ्जानानां] भोजन करनेवाले को [हिंसा] हिंसा [अनिवारिता] अनिवार्य [भवति] होती है [तस्मात्] इसलिए [हिंसाविरतै:] हिंसा के त्यागियों को [रात्रिभुक्ति: अपि] रात्रिभोजन का भी [त्यक्तव्या] त्याग करना चाहिए ।

रात्रिभोजन में भावहिंसा

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम् ।
रात्रिं दिवमाहरत: कथं हि हिंसा न संभवति ॥130॥
रागादि भावों की अधिकता, से नहीं त्यागे सदा ।
अतएव निशिदिन करे भोजन, महा हिंसा सर्वदा ॥१३०॥
अन्वयार्थ : [अनिवृत्ति:] अत्यागभाव [रागाद्युदयपरत्वात्] रागादिभावों के उदय की उत्कटता से [हिंसां] हिंसा को [न अतिवर्तते] उल्लंघन करके नहीं प्रवर्तते तो [रात्रिं दिवम्] रात और दिन [आहारत:] आहार करनेवाले को [हि] निश्चय से [हिंसा] हिंसा [कथं] क्यों [न संभवति] नहीं संभव होगी?

शंकाकार की शंका

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहार: ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥131॥
है यदि ऐसा छोड़ दिन, भोजन करेंगे रात में ।
भोजन सदा हिंसा नहीं, होगी इसी से तर्क ये ॥१३१॥
अन्वयार्थ : [यदि एवं] यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है [तर्हि] तो [दिवा भोजनस्य] दिन में भोजन करने का [परिहार:] त्याग [कर्त्तव्य:] कर देना चाहिये [तु] और [निशायां] रात में [भोक्तव्यं] भोजन करना चाहिये क्योंकि [इत्थं] इस तरह से [हिंसा] हिंसा [नित्यं] सदाकाल [न भवति] नहीं होगी ।

उत्तर

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥132॥
ऐसा नहीं, ज्यों अन्नभोजन, से कहा है माँस में ।
अति तीव्र राग कहा दिवस से, अधिक है निशिभोज में ॥१३२॥
अन्वयार्थ : [एवं न] ऐसा नहीं है कारण कि [अन्नकवलस्य] अन्न के ग्रास के [भुक्ते:] भोजन से [मांसकवलस्य] माँस के ग्रास के [भुक्तौ इव] भोजन में जिस प्रकार राग अधिक होता है उसी प्रकार [वासरभुक्ते:] दिन के भोजन की अपेक्षा [रजनिभुक्तौ] रात्रिभोजन में [हि] निश्चय से [रागाधिक:] अधिक राग [भवति] होता है ।

रात्रिभोजन में द्रव्यहिंसा

अर्कालोकेन विना भुञ्जान: परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधित: प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥133॥
आलोक रवि बिन प्रज्ज्वलित, दीपक में मिलते भोज्य में ।
सम्मूर्छनों की महा हिंसा, से कहो कैसे बचें? ॥१३३॥
अन्वयार्थ : तथा [अर्कालोकेन विना] सूर्य के प्रकाश बिना रात में [भुञ्जान:] भोजन करनेवाला मनुष्य [बोधित: प्रदीपे] जलते हुए

दीपक में [अपि] भी [भोज्यजुषां] भोजन में मिले हुए [सूक्ष्मजीवानाम्] सूक्ष्म जीवों की [हिंसा] हिंसा [कथं] किस तरह [परिहरेत्] टाल सकता है?

क वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायै: ।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥134॥
अब अति कथन से लाभ क्या? यों मान मन वच काय से ।
निशिभोज छोड़े सर्वथा, नित अहिंसक वह सिद्ध ये ॥१३४॥

अन्वयार्थ : अथवा [बहुप्रलपितै:] बहुत प्रलाप से [किं] क्या? [य:] जो पुरुष [मनोवचनकायै:] मन, वचन, काय से [रात्रिभुक्तिं] रात्रिभोजन का [परिहरति] त्याग करता है [स:] वह [सततम्] निरन्तर [अहिंसां] अहिंसा का [पालयति] पालन करता है [इति सिद्धम्] ऐसा सिद्ध हुआ ।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामा: ।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥135॥
यों निज हितैषी मोक्ष के, रत्नत्रयात्मक मार्ग में ।
अनवरत करते यत्न, पाते मोक्ष सुख अति शीघ्र वे ॥१३५॥

अन्वयार्थ : [इति] इस प्रकार [अत्र] इस लोक में [ये] जो [स्वहितकामा:] अपने हित के इच्छुक [मोक्षस्य] मोक्ष के [त्रितयात्मनि] रत्नत्रयात्मक [मार्गे] मार्ग में [अनुपरतं] सर्वदा बिना अटके हुए [प्रयतन्ते] प्रयत्न करते हैं [ते] वे पुरुष [मुक्तिम्] मोक्ष में [अचिरेण] शीघ्र ही [प्रयान्ति] गमन करते हैं ।

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥136॥
ज्यों नगर रक्षक परिधि त्यों, हैं शील रक्षक व्रतों के ।
अतएव व्रत को पालने, नित शील पालन चाहिए ॥१३६॥

अन्वयार्थ : [किल] निश्चय से [परिधय: इव] जैसे कोट, किला [नगराणि] नगरों की रक्षा करता है, उसी तरह [शीलानि] तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत-यह सात शील [व्रतानि] पाँचों अणुव्रतों का [पालयन्ति] पालन अर्थात् रक्षण करते हैं, [तस्मात्] इसलिए [व्रतपालनाय] व्रतों का पालन करने के लिए [शीलानि] सात शीलव्रत [अपि] भी [पालनीयानि] पालन करना चाहिए ।

दिग्व्रत

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानै: ।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्य: कर्त्तव्या विरतिरविचलिता ॥137॥
नित सुप्रसिद्ध सुज्ञात से, सर्वत्र मर्यादा बना ।
उससे बहि: पूर्वादि दिश में, नहीं जाना सर्वथा ॥१३७॥

अन्वयार्थ : [सुप्रसिद्धै:] भले प्रकार प्रसिद्ध [अभिज्ञानै:] ग्राम, नदी, पर्वतादि भिन्न-भिन्न लक्षणों से [सर्वत:] सभी दिशाओं में [मर्यादां] मर्यादा [प्रविधाय] करके [प्राच्यादिभ्य:] पूर्वादि [दिग्भ्य:] दिशाओं में [अविचलिता विरति:] गमन न करने की प्रतिज्ञा [कर्त्तव्या] करना चाहिए ।

दिग्व्रत पालन करने का फल

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य ।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥138॥
दिग्व्रत प्रवृत्ति सुनिश्चित, दिग्भाग में उससे बहि: ।
है सर्व अविरति त्याग, अहिंसा पूर्ण ही सीमा बहि: ॥१३८॥

अन्वयार्थ : [य:] जो [इति] इस प्रकार [नियमितदिग्भागे] मर्यादा की हुई दिशाओं के अन्दर [प्रवर्तते] रहता है [तस्य] उस पुरुष को [तत:] उस क्षेत्र के [बहि:] बाहर के [सकलासंयमविरहात्] समस्त असंयम के त्याग के कारण [पूर्णं] परिपूर्ण [अहिंसाव्रतं] अहिंसाव्रत [भवति] होता है ।

देशव्रत

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥139॥
नित ग्राम गलि बाजार भवनादि, से निश्चित काल की ।
उसमें बना सीमा, नहीं बाहर भ्रमे देशव्रत यही ॥१३९॥

अन्वयार्थ : [च] और [तत्र अपि] उस दिग्व्रत में भी [ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्] ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला इत्यादि का [परिमाणं] परिमाण [प्रविधाय] करके [देशात्] मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर [नियतकालं] अपने निश्चित किये हुए समय तक जाने का [विरमणं] त्याग [करणीयं] करना चाहिए ।

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमति: श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥140॥
बहु क्षेत्र त्यागी विमलधी, यों अधिक हिंसा त्याग से ।
उस समय अधिकाधिक, अहिंसा आश्रय रहता उसे ॥१४०॥

अन्वयार्थ : [इति] इस प्रकार [बहुदेशात् विरत:] बहुत क्षेत्र का त्याग करनेवाला [विमलमति:] निर्मल बुद्धिवाला श्रावक [तत्कालं] उस नियमित काल में [तदुत्थहिंसा-विशेषपरिहारात्] मर्यादाकृत क्षेत्र से उत्पन्न होनेवाली हिंसा विशेष के त्याग से [विशेषेण] विशेषरूप से [अहिंसां] अहिंसाव्रत का [श्रयति] आश्रय करता है ।

अपध्यान

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्या: ।
न कदाचनापि चिन्त्या: पापफलं केवलं यस्मात् ॥141॥
परघात चोरी जय पराजय, कलह परस्त्री गमन ।
आदि नहीं सोचो कभी, अपध्यान केवल पापफल ॥१४१॥

अन्वयार्थ : [पापर्द्धि-जय-पराजय-सङ्गर-परदारगमन-चौर्याद्या:] शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का [कदाचनापि] किसी भी समय [न चिन्त्या:] चिन्तवन नहीं करना चाहिए [यस्मात्] कारण कि इन अपध्यानों का [केवलं] मात्र [पापफलं] पाप ही फल है ।

पापोपदेश

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥142॥
विद्या वणिज लेखन कृषि, सेवक सुशिल्पी नरों को ।
पापोपदेश कभी नहीं, देना निरन्तर पाप हो ॥१४२॥

अन्वयार्थ : [विद्या-वाणिज्य-मषी-कृषि-सेवा-शिल्पजीविनां] विद्या, व्यापार, लेखन-कला, खेती, नौकरी और कारीगरी से निर्वाह चलानेवाले [पुंसाम] पुरुषों को [पापोपदेशदानं] पाप का उपदेश मिले ऐसा [वचनं] वचन [कदाचित् अपि] किसी भी समय [नैव] नहीं [वक्तव्यम्] बोलना चाहिए ।

प्रमादचर्या

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च॥143॥
नहिं करो निष्कारण खनन भू, वृक्ष मोटन तृण सहित ।
भू आदि रौंदन फैंकना जल, तोड़ना फल फूल दल॥
कारण बिना इत्यादि सब, हिंसादि पोषक कार्य हैं ।
हैं अनर्थ दण्ड प्रमादचर्या, अहिंसक छोड़ें इन्हें॥१४३॥

अन्वयार्थ : [भूखनन वृक्षमोट्टन शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि] पृथ्वी, खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घासवाली भूमि रौंदना, पानी सींचना आदि [च] और [दलफल-कुसुमोच्चयान्] पत्र, फल, फूल तोड़ना [अपि] इत्यादि भी [निष्कारणं] बिना प्रयोजन [न कुर्यात्] नहीं करना चाहिए ।

हिंसाप्रदान

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसाया: परिहरेद्यत्नात् ॥144॥
हिंसोपकरणी छुरी विष, तलवार अग्नि हल धनुष ।
वाणादि देना छोड़ना नित, यत्नपूर्वक हो निपुण ॥१४४॥

अन्वयार्थ : [असि-धेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनाम्] छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि [हिंसाया:] हिंसा के [उपकरणानां] उपकरणों का [वितरणम्] वितरण करना अर्थात् दूसरों को देना [यत्नात्] सावधानी से [परिहरेत्] छोड़ देना चाहिए ।

दु:श्रुति

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥145॥
अज्ञानमय रागादिवर्धक, दुष्टतामय कथा को ।
नहिं सुनो नहिं अर्जित करो, नहिं शिक्षणादि भी करो॥१४५॥

अन्वयार्थ : [रागादिवर्द्धनानां] राग, द्वेष, मोहादि को बढ़ानेवाली तथा [अबोध-बहुलानाम्] बहुत अंशों में अज्ञान से भरी हुई [दुष्टकथानाम्] दुष्ट कथाओं का [श्रवणार्जनशिक्षणादीनि] सुनना, धारण करना, सीखना आदि [कदाचन] किसी समय, कभी भी [न कुर्वीत] नहीं करना चाहिए ।

जुआ का त्याग

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायाया: ।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥146॥
नित सब अनर्थों में प्रथम, है शौच नाशक कपट घर ।
चोरी असत्य निवास द्यूत, जुआ करो परिहार सब ॥१४६॥

अन्वयार्थ : [सर्वानर्थप्रथमं] सप्त व्यसनों में पहला अथवा सर्व अनर्थों में मुख्य [शौचस्य मथनं] सन्तोष का नाश करनेवाला [मायाया:] मायाचार का [सद्म] घर और [चौर्यासत्यास्पदम्] चोरी तथा असत्य का स्थान [द्यूतम्] ऐसे जुआ को [दूरात्] दूर ही से [परिहरणीयम्] त्याग करना चाहिए ।

विशेष

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं य: ।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥147॥
इस ही तरह के अन्य भी हैं, अनर्थ दण्ड सुजान नित ।
जो छोड़ता सब उसी का, निर्मल अहिंसाव्रत विजित ॥१४७॥
अन्वयार्थ : [य:] जो मनुष्य [एवं विधं] इस प्रकार के [अपरमपि] दूसरे भी [अनर्थदण्डं] अनर्थदण्ड को [ज्ञात्वा] जानकर [मुञ्चति] त्याग करता है [तस्य] उसके [अनवद्यं] निर्दोष [अहिंसाव्रत] अहिंसाव्रत [अनिशं] निरन्तर [विजयं] विजय को [लभते] प्राप्त करता है ।

सामायिक शिक्षाव्रत

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य ।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुश: सामायिकं कार्यम् ॥148॥
सब राग द्वेष निषेध पूर्वक, सभी में समभाव धर ।
तत्त्वोपलब्धि मूल हेतु, सामायिक बहु बार कर ॥१४८॥
अन्वयार्थ : [रागद्वेषत्यागात्] राग-द्वेष के त्याग से [निखिलद्रव्येषु] सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में [साम्यं] साम्यभाव को [अवलम्ब्य] अंगीकार करके [तत्त्वोपलब्धिमूलं] आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मूलकारण ऐसा [सामायिक] सामायिक [बहुश:] बहुत बार [कार्यम्] करना चाहिए ।

सामायिक कब और किस प्रकार

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम् ।
इतरत्र पुन: समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥149॥
वह रात दिन के अन्त में, एकाग्र हो निश्चित करो ।
यदि अन्य में भी करो तो, नहिं दोष अति गुण नित्य हों ॥१४९॥
अन्वयार्थ : [तत्] वह सामायिक [रजनीदिनयो:] रात्रि और दिन के [अन्ते] अन्त में [अविचलितम्] एकाग्रतापूर्वक [अवश्यं] अवश्य [भावनीयम्] करना चाहिये [पुन:] और यदि [इतरत्रसमये] अन्य समय में भी [कृतं] करने में आवे तो [तत्कृतं] वह सामायिक कार्य [दोषाय] दोष के लिये [न] नहीं है, अपितु [गुणाय] गुण के लिये ही होती है ।
सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥150॥
है उदय चारित्र मोह का, पर सकल सावद्य योग के ।
परिहार से है महाव्रतवत्, दशा सामायिक कहें ॥१५०॥
अन्वयार्थ : [एषाम् सामायिकश्रितानां] यह सामायिकदशा को प्राप्त (श्रावकों) को [चारित्रमोहस्य] चारित्रमोह का [उदये अपि] उदय होने पर भी [समस्तसावद्ययोगपरिहारात्] समस्त पाप के योग का त्याग होने से [महाव्रतं भवति] महाव्रत होता है ।

प्रोषधोपवास

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्त्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवास: ॥151॥
प्रतिदिन लिए संस्कार, सामायिक की स्थिरता निमित्त ।
पक्षार्ध दो में सुनिश्चित, कर्तव्य है उपवास नित ॥१५१॥
अन्वयार्थ : [प्रतिदिनं आरोपितं] प्रतिदिन अंगीकार किए हुए [सामायिक संस्कारं] सामायिकरूप संस्कार को [स्थिरीकर्त्तुम्] स्थिर करने के लिये [द्वयो: पक्षार्द्धयो:] दोनों पक्ष के अर्द्धभाग में (अष्टमी और चतुर्दशी के दिन) [उपवास:] उपवास [अवश्यमपि कर्त्तव्य:] अवश्य ही

करना चाहिए ।

प्रोषधोपवास की विधि

मुक्तसमस्तारम्भ: प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥152॥
सम्पूर्ण आरम्भ से रहित, देहादि में ममता रहित ।
हो पर्व दिन के पूर्व दिन, मध्यान्ह में अनशन ग्रहण ॥१५२॥

अन्वयार्थ : [मुक्तसमस्तारम्भ:] समस्त आरम्भ से मुक्त होकर [देहादौ ममत्वं अपहाय] शरीरादि में ममत्वबुद्धि का त्याग करके [प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे] पर्व के पहले दिन के मध्याह्न काल में [उपवासं गृह्णीयात्] उपवास को अंगीकार करना चाहिए ।

उपवास के दिन का कर्त्तव्य

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरत: कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥153॥
फिर पूत निर्जन वसतिका जा, सभी सावद्य योग तज ।
सब इन्द्रियार्थों से विरत, हो मन वचन तन गुप्ति युत ॥१५३॥

अन्वयार्थ : फिर [विविक्तवसतिं श्रित्वा] निर्जन वसतिका (निवासस्थान) में जाकर [समस्तसावद्ययोगं अपनीय] सम्पूर्ण सावद्ययोग का त्याग करके [सर्वेन्द्रियार्थविरत:] सर्व इन्द्रियों से विरक्त होकर [कायमनोवचनगुप्तिभि: तिष्ठेत्] मनगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति सहित स्थिर होवे ।

पश्चात् क्या करना चाहिये?

धर्मध्यानासक्त को वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्र: ॥154॥
हो धर्म ध्यानासक्त दिन, सामायिकादि में बिता ।
स्वाध्याय से निद्रा विजय, शुचि संस्तर पर हो निशा ॥१५४॥

अन्वयार्थ : [विहितसान्ध्यविधिम्] प्रात:काल तथा सन्ध्याकाल की सामायिकादि क्रिया करके [वासरम् धर्मध्यानासक्त:] दिवस धर्म-ध्यान में लीन होकर [अतिवाह्य] व्यतीत करे और [स्वाध्यायजितनिद्र:] पठन-पाठन से निद्रा को जीतकर [शुचिसंस्तरे] पवित्र बिस्तर (चटाई आदि) पर [त्रियामां गमयेत्] रात पूर्ण करे ।

इसके बाद क्या करना?

प्रात: प्रोत्थाय तत: कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यै: ॥155॥
फिर सुबह उठ सामायिकादि, तात्कालिक क्रिया कर ।
प्रासुक पदार्थों से करे, जिनदेव पूजा श्रुतकथित ॥१५५॥

अन्वयार्थ : [तत: प्रात: प्रोत्थाय] इसके बाद सुबह ही उठकर [तात्कालिकं क्रियाकल्पम्] प्रात:काल की सामायिकादि क्रियायें [कृत्वा प्रासुकै:] करके प्रासुक (जीवरहित) [द्रव्यै: यथोक्तं] द्रव्यों से आर्ष ग्रन्थों में कहे अनुसार [जिनपूजां निर्वर्तयेत्] जिनेन्द्रदेव की पूजा करे ।

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयादिवसस्य ॥156॥
पूर्वोक्त विधि से यह दिवस, द्वितीय रात्रि भी बिता ।
इस ही विधि से यत्न पूर्वक, तृतिय दिन आधा बिता ॥१५६॥

अन्वयार्थ : [तत: उक्तेन विधिना] उसके बाद पूर्वोक्त विधि से [दिवसं च द्वितीयरात्रिं] उपवास का दिन और दूसरी रात को [नीत्वा च] व्यतीत करके फिर [तृतीयदिवसस्य] तीसरे दिन का [अर्धं] आधा भाग भी [प्रयत्नात्] अतिशय यत्नाचारपूर्वक [अतिवाहयेत्] व्यतीत करे ।

उपवास का फल

इति य: षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलासावद्य: ।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥157॥
यों सभी सावद्य रहित जो, सोलह प्रहर यों बिताता ।
हो उस समय निश्चित अहिंसा, पूर्ण व्रत उसके सदा ॥१५७॥
अन्वयार्थ : [य: इति] जो जीव इस प्रकार [परिमुक्तसकलसावद्य: सन्] सम्पूर्ण पापक्रियाओं से रहित होकर [षोडशयामान् गमयति] सोलह प्रहर व्यतीत करता है [तस्य तदानीं] उसे उस समय [नियतं पूर्णं] निश्चयपूर्वक सम्पूर्ण [अहिंसाव्रतं भवति] अहिंसाव्रत होता है ।

उपवास में विशेषत: अहिंसा

भोगोपभोगहेतो: स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम् ।
भोगोपभोग विरहाद् भवति न लेशोऽपि हिंसाया: ॥158॥
इस व्रती के भोगोपभोगादि जनित एकेन्द्रियों ।
की कही हिंसा विरत, भोगोपभोग से नहिं घात हो ॥१५८॥
अन्वयार्थ : [किल] निश्चय से [अमीषाम्] इस देशव्रती श्रावक को [भोगोपभोगहेतो:] भोग-उपभोग के हेतु से [स्थावरहिंसा भवेत्] स्थावर अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है परन्तु [भोगोपभोगविरहात्] भोग-उपभोग के त्याग से [हिंसाया] हिंसा [लेश: अपि न भवति] लेशमात्र भी नहीं होती ।

उपवास में अन्य चार महाव्रत भी

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहित: स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुच: संगो नांगेपयमूर्छस्य ॥159॥
है नहिं अनृत वच गुप्ति से, स्तेय नहिं आदान बिन ।
मैथुन बिना अब्रम्ह नहिं, नहिं परिग्रह तन ममत बिन ॥१५९॥
अन्वयार्थ : और उपवासधारी पुरुष के [वाग्गुप्ते] वचनगुप्ति होने से [अनृतं न] असत्य वचन नहीं है [समस्तादानविरहित:] सम्पूर्ण अदत्तादान के त्याग से [स्तेयम् न] चोरी नहीं है [मैथुनमुच: अब्रह्म न] मैथुन त्यागी को अब्रह्मचर्य नहीं है और [अंगे अमूर्छस्य] शरीर में ममत्व न होने से [संग अपि न] परिग्रह भी नहीं है ।

श्रावक और मुनियों के महाव्रत में अन्तर

इत्थमशेषितहिंसा: प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥160॥
यों सभी हिंसादि रहित, उपचार से महाव्रतिपना ।
उसके परन्तु चरित्र मोह में, प्रगट संयम दशा ना ॥१६०॥
अन्वयार्थ : [इत्थम् अशेषितहिंसा] इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसाओं के रहित [स:] वह (प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष) [उपचारात्] उपचार से [महाव्रतित्वं प्रयाति] महाव्रतपना पाता है, [तु] परन्तु [चरित्रमोहे उदयति] चारित्रमोह के उदयरूप होने के कारण [संयमस्थानम्] संयमस्थान (प्रमत्तादि गुणस्थान) [न लभते] नहीं प्राप्त करता ।

भोगोपभोगपरिमाण

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥161॥
अणुव्रती के भोगोपभोग, निमित्त हिंसा अन्य नहिं ।
ये भी स्वशक्ति वस्तु तत्त्व, सुजान तजने योग्य ही ॥१६१॥

अन्वयार्थ : [विरताविरतस्य] देशव्रती श्रावक को [भोगोपभोगमूला] भोग और उपभोग के निमित्त से होनेवाली [हिंसा] हिंसा होती है [अन्यत: न] अन्य प्रकार से नहीं होती, इसलिए [तौ] वह दोनों (भोग और उपभोग) [अपि] भी [वस्तुतत्त्वं] वस्तुस्वरूप [अपि] और [स्वशक्तिं] अपनी शक्ति को [अधिगम्य] जानकर अर्थात् अपनी शक्ति अनुसार [त्याज्यौ] छोड़ने योग्य हैं ।

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्॥162॥
है एक का भी घात इच्छुक, अनन्तों का घात ही ।
नित करे इससे अहिंसक को, अनन्त कायिक त्याज्य ही॥१६२॥

अन्वयार्थ : [तत:] कारण कि [एकम्] एक साधारण शरीर को-कन्दमूलादिक को [अपि] भी [प्रजिघांसु] घात करने की इच्छा करनेवाला पुरुष [अनन्तानि] अनन्त जीवों को [निहन्ति] मारता है, [अत:] इसलिए [अशेषाणां] सम्पूर्ण [अनन्तकायानां] अनन्त काय का [परिहरणं] परित्याग [अवश्यं] अवश्य [करणीयम्] करना चाहिए ।

विशेष

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम् ।
यद्वापि पिण्डऽशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥163॥
है बहुत जीवों का जनम, स्थल अत: मक्खन तजो ।
यों जो भि हैं आहार शुद्धि, के विरुद्ध सभी तजो ॥१६३॥

अन्वयार्थ : [च] और [प्रभूतजीवानाम्] बहुत जीवों का [योनिस्थानं] उत्पत्तिस्थानरूप [नवनीतं] मक्खन अथवा लौनी [त्याज्यं] त्याग करने योग्य है । [वा] अथवा [पिण्डशुद्धौ] आहार की शुद्धि में [यत्किंचित्] जो किञ्चित् भी [विरुद्धं] विरुद्ध [अभिधीयते] कहा गया है [तत्] वह [अपि] भी त्याग करने योग्य है ।

विशेष

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्या: ।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥164॥
धीमान निज शक्ति विचारें, उचित भोग भि छोड़ दें ।
यदि नहीं छोड़ सकें सभी तो, यथोचित सीमा करें ॥१६४॥

अन्वयार्थ : [धीमता] बुद्धिमान पुरुष [निजशक्ति] अपनी शक्ति [अपेक्ष्य] देखकर [अविरुद्धा:] अविरुद्ध [भोगा:] भोग [अपि] भी [त्याज्या:] छोड़ देवे और जो [अत्याज्येषु] उचित भोग-उपभोग का त्याग न हो सके तो उसमें [अपि] भी [एकदिवानिशोपभोग्यतया] एक दिवस-रात की उपभोग्यता से [सीमा] मर्यादा [कार्या] करनी चाहिए ।

विशेष

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम् ।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्या ॥165॥
उन पूर्वकृत सीमा में अपनी, शक्ति देख प्रति दिवस ।

कर तात्कालिक और भी, सीमा में सीमा यथोचित ॥१६५॥
अन्वयार्थ : [पूर्वकृतायां] पहले की हुई [सीमनि] मर्यादा में [पुन:] फिर से [अपि] भी [तात्कालिकी] उस समय की अर्थात् वर्तमान समय की [निजां] अपनी [शक्तिम्] शक्ति को [समीक्ष्य] विचार कर [प्रतिदिवसं] प्रत्येक दिन [अन्तरसीमा] मर्यादा में भी थोड़ी मर्यादा [कर्त्तव्या भवति] करना योग्य है ।

विशेष

इति य: परिमितभोगै: सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥166॥
यों हुआ सीमित भोग से, संतुष्ट भोग बहुत तजे ।
यों बहुत हिंसा से रहित, उसके अहिंसा विशेष है ॥१६६॥
अन्वयार्थ : [य:] जो गृहस्थ [इति] इस प्रकार [परिमितभोगै:] मर्यादारूप भोगों से [सन्तुष्ट:] सन्तुष्ट होकर [बहुतरान्] बहुत से [भोगान्] भोगों को [त्यजति] छोड़ देता है [तस्य] उसके [बहुतरहिंसाविरहात्] अधिक हिंसा के त्याग से [विशिष्टा अहिंसा] विशेष अहिंसाव्रत [स्यात्] होता है ।

अतिथि संविभाग

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय ।
स्वपरानुग्रहहेतो: कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भाग: ॥167॥
नित यथाजात दिगम्बरों को, गुणी दाता विधि से ।
निज पर अनुग्रह हेतु, वस्तु विशेष अंश अवश्य दे ॥१६७॥
अन्वयार्थ : [दातृगुणवता] दातार के गुणों से युक्त गृहस्थ के द्वारा [जातरूपाय-अतिथये] दिगम्बर मुनि को [स्वपरानुग्रहहेतो:] अपने और पर के अनुग्रह के लिय [द्रव्यविशेषस्य] विशेष द्रव्य का अर्थात् देने योग्य वस्तु का [भाग:] भाग [विधिना] विधिपूर्वक [अवश्यम्] अवश्य ही [कर्त्तव्य:] करना चाहिए ।

नवधा भक्ति

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
वाक्कायमन: शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहु: ॥168॥
प्रतिग्रहण उच्चस्थान, पादप्रक्षाल पूजन नमन मन ।
वच तन रु भोजन शुद्धि, नवधा भक्ति विधि जानो नियत ॥१६८॥
अन्वयार्थ : [च] और [संग्रहम्] प्रतिग्रहण [उच्चस्थानं] ऊँचा आसन देना [पादोदकं] चरण धोना [अर्चनं] पूजा करना [प्रणामं] नमस्कार करना [वाक्कायमन: शुद्धि:] मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि रखना [च] और [एषणशुद्धि:] भोजन शुद्धि-इस प्रकार आचार्यों ने [विधिम्] नवधाभक्तिरूप विधि [आहु:] कही है ।

दातार के सात गुण

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणा: ॥169॥
इस लोक फल इच्छा रहित, क्षान्ति अछल अनसूयता ।
अविषादता हर्षित, निरभिमानी कहे गुण दातृता ॥१६९॥
अन्वयार्थ : [ऐहिकफलानपेक्षा] इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा न रखना, [क्षान्ति] क्षमा अथवा सहनशीलता, [निष्कपटता] निष्कपटता, [अनसूयत्व] ईर्षारहित होना, [अविषादित्वमुदित्वे] अखिन्नभाव, हर्षभाव और [निरहंकारित्व] अभिमान रहित होना [इति]

इस प्रकार यह सात [हि] निश्चय से [दातृगुणा:] दातार के गुण हैं ।

दान योग्य वस्तु

रागद्वेषासंयममद्दु:खभयादिकं न यत्कुरुते ।
द्रव्यं तदेव देयं सुतप: स्वाध्याय वृद्धिकरम् ॥170॥
जो वस्तुएं मद राग द्वेष, रु दुख असंयम भयादि ।
को नहिं करें वे देय, करतीं सुतप स्वाध्याय वृद्धि हि ॥१७०॥

अन्वयार्थ : [यत्] जो [द्रव्यं] द्रव्य [रागद्वेषासंयममदद‍ु:खभयादिकं] राग, द्वेष, असंयम, मद, दु:ख, भय आदि [न कुरुते] नहीं करता हो और [सुतप: स्वाध्याय वृद्धिकरम्] उत्तम तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि करनेवाला हो [तत् एव] वही [देयं] देने योग्य है ।

पात्रों का भेद

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।
अविरतसम्यग्दृष्टि: विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥171॥
हैं पात्र तीन प्रकार शिव, हेतु गुणों संयुक्त ही ।
अविरत सुदृष्टि देशविरति, सकल विरति जिन कही ॥१७१॥

अन्वयार्थ : [मोक्षकारणगुणानाम्] मोक्ष के कारणरूप गुणों के अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणों के [संयोग:] संयोगवाला [पात्रं] पात्र [अविरतसम्यग्दृष्टि:] व्रतरहित सम्यग्दृष्टि [च] तथा [विरताविरत:] देशव्रती [च] और [सकल-विरत:] महाव्रती [त्रिभेद] तीन भेदरूप [उक्तम्] कहा गया है ।

दान देने से हिंसा का त्याग

हिंसाया: पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने ।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥172॥
नित दान में मिटता समझ, यह लोभ हिंसा परिणति ।
अतएव अतिथि दान दाता, मान हिंसा त्यागि ही ॥१७२॥

अन्वयार्थ : [यत:] कारण कि [अत्र दाने] यहाँ दान में [हिंसाया:] हिंसा की [पर्याय:] पर्याय [लोभ:] लोभ का [निरस्यते] नाश करने में आता है, [तस्मात्] इसलिए [अतिथिवितरणं] अतिथिदान को [हिंसाव्युपरमणमेव] हिंसा का त्याग ही [इष्टम्] कहा है ।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥173॥
नहिं अन्य पीड़ें मधुकरी, वृत्ति सहित गुणवान भी ।
घर आए अतिथि को नहीं दे, लोभयुत कैसे नहीं? ॥१७३॥

अन्वयार्थ : [य:] जो गृहस्थ [गृहमागताय] घर पर आये हुए [गुणिने] संयमादि गुणों से युक्त और [मधुकरवृत्या] भ्रमर समान वृत्ति से [परान्] दूसरों को [अपीडयते] पीड़ा न देनेवाले [अतिथये] अतिथि साधु को [न वितरति] भोजनादि नहीं देता, [स:] [वह [लोभवान्] लोभी [कथं] कैसे [न हि भवति] न हो]?

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्याग: ।
अरतिविषादविमुक्त: शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥174॥
अपने लिए कृत दे मुनि को, भोज्य प्रीति हर्ष युत ।
है लोभ शिथिलित दान यों, होता अहिंसामय सतत ॥१७४॥

अन्वयार्थ : [आत्मार्थं] अपने लिए [कृतम्] बनाया हुआ [भक्तम्] भोजन [मुनये] मुनि को [ददाति] देवे [इति] इस प्रकार [भावित:]

भावपूर्वक [अरतिविषाद-विमुक्त:] अप्रेम और विषादरहित तथा [शिथिलितलोभ:] लोभ को शिथिल करनेवाला [त्याग:] दान [अहिंसा एव] अहिंसा स्वरूप ही [भवति] है ।

सल्लेखना

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥175॥
मरणान्त में सल्लेखना, यह एक ही धन धर्म को ।
मुझ साथ लेने में समर्थ, सभक्ति भाओ मान यों ॥१७५॥

अन्वयार्थ : [इयम्] यह [एका] एक [पश्चिमसल्लेखना एव] मरण के अन्त में होनेवाली सल्लेखना ही [मे] मेरे [धर्मस्वं] धर्मरूपी धन को [मया] मेरे [समं] साथ [नेतुम्] ले जाने में [समर्था] समर्थ है, [इति] इस प्रकार [भक्त्या] भक्तिसहित [सततम्] निरन्तर [भावनीया] भावना करनी चाहिए ।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥176॥
मरणान्त में निश्चित विधि, पूर्वक करूँ सल्लेखना ।
इस भावना परिणत मरण के, पूर्व भी व्रत पालना ॥१७६॥

अन्वयार्थ : [अहं] मैं [मरणान्ते] मरण के समय [अवश्यं] अवश्य [विधिना] शास्त्रोक्त विधि से [सल्लेखनां] समाधिमरण [करिष्यामि] करूँगा, [इति] इस प्रकार [भावना परिणत:] भावनारूप परिणति करके [अनागतमपि] मरण काल आने से पहले ही [इदं] यह [शीलम्] सल्लेखनाव्रत [पालयेत्] पालना अर्थात् अंगीकार करना चाहिए ।

सल्लेखना आत्मघात नहीं

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥177॥
अवश्य होते मरण में, नित कषायों के कृश करण ।
में लगे को रागादि बिन, नहिं आत्मघात है सल्लेखन ॥१७७॥

अन्वयार्थ : [अवश्यं] अवश्य [भाविनि] होनेवाले [मरणे 'सति'] मरण होने पर [कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे] कषाय सल्लेखना के कृश करने मात्र के व्यापार में [व्याप्रियमाणस्य] प्रवर्तमान पुरुष को [रागादिमन्तरेण] रागादिभावों के अभाव में [आत्मघात:] आत्मघात [नास्ति] नहीं है ।

आत्मघातक कौन?

यो हि कषायाविष्ट: कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रै: ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवध: ॥178॥
हो जो कषायाविष्ट श्वास निरोध जल अग्नि जहर ।
शस्त्रादि से निज प्राण घाते, आत्मघात उसे सतत ॥१७८॥

अन्वयार्थ : [हि] निश्चय से [कषायाविष्ट:] क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ [य:] जो पुरुष [कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रै:] श्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि से अपने [प्राणान्] प्राणों को [व्यपरोपयति] पृथक् करता है, [तस्य] उसे [आत्मवध:] आत्मघात [सत्यम्] वास्तव में [स्यात्] होता है ।

सल्लेखना भी अहिंसा

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।

सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ॥179॥
नित यहाँ हिंसा हेतुभूत, कषाय होतीं क्षीण हैं ।
इससे अहिंसा सिद्धि हेतु, सतत सल्लेखना कहें ॥१७९॥
अन्वयार्थ : [यत:] कारण कि [अत्र] इस संन्यास मरण में [हिंसाया] हिंसा के [हेतव:] हेतुभूत [कषाया:] कषाय [तनुताम्] क्षीणता के [नीयन्ते] प्राप्त होते हैं [तत:] इस कारण [सल्लेखनामपि] संन्यास को भी आचार्य [अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं] अहिंसा की सिद्धि के लिये [प्राहु:] कहते हैं ।

शीलों के कथन का संकोच

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि ।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्री: ॥180॥
जो व्रतों के रक्षार्थ ये सब, शील भी पाले सतत ।
स्वयमेव उत्सुक मोक्ष लक्ष्मी, स्वयंवरवत् वरे नित ॥१८०॥
अन्वयार्थ : [य:] जो [इति] इस प्रकार [व्रतरक्षार्थं] पंच अणुव्रतों की रक्षा के लिये [सकलशीलानि] समस्त शीलों को [सततं] निरन्तर [पालयति] पालन करता है [तम्] उस पुरुष को [शिवपदश्री:] मोक्षरूपी लक्ष्मी [उत्सुका] अतिशय उत्कंठित [पतिंवरा इव] स्वयंवर की कन्या की तरह [स्वयमेव] स्वयं ही [वरयति] स्वीकार करती है अर्थात् प्राप्त होती है ।

पाँच अतिचार

अतिचारा: सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति ।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेया: ॥181॥
सम्यक्त्व में व्रत शील में, पाँच पाँच यों सत्तर कहे ।
नित वास्तविक शुद्धि विरोधक, हेय हैं अतिचार ये ॥१८१॥
अन्वयार्थ : [सम्यक्त्वे] सम्यक्त्व में [व्रतेषु] व्रतों में और [शीलेषु] शीलों में [पञ्च पञ्चेति] पाँच-पाँच के क्रम से [अभी] यह [सप्तति:] सत्तर [यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिन:] यथार्थ शुद्धि के रोकनेवाले [अतिचारा:] अतिचार [हेया:] छोड़ने योग्य हैं ।

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार

शंका तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचारा: ॥182॥
सम्यक्त्व के अतिचार शंका, कांक्षा विचिकित्सता ।
मिथ्यादृशी की स्तुति, मन से प्रशंसा जानना ॥१८२॥
अन्वयार्थ : [शंका] सन्देह [काङ्क्षा] वाँछा [विचिकित्सा] ग्लानि [तथैव] उसी प्रकार [अन्यदृष्टीनाम्] मिथ्यादृष्टियों की [संस्तव:] स्तुति [च] और [मनसा] मन से [तत्प्रशंसा] अन्य मतावलम्बियों की प्रशंसा करना [सम्यग्दृष्टे:] सम्यग्दृष्टि के [अतिचारा:] अतिचार हैं ।

अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयोश्च रोध: पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥183॥
छेदन प्रताड़न बाँधना, अत्यधिक बोझा लादना ।
हैं अन्न पान निरोध करना, तज तभी शुध अहिंसा ॥१८३॥
अन्वयार्थ : [अहिंसाव्रतस्य] अहिंसाव्रत के [छेदनताडनबन्धा:] छेदना, ताडन करना, बाँधना, [समधिकस्य] बहुत अधिक [भारस्य] बोझ का [आरोपणं] लादना [च] और [पानान्नयौ:] अन्न-जल का [रोध:] रोकना अर्थात् न देना [इति] इस प्रकार [पञ्च] पाँच अतिचार हैं ।

सत्य अणुव्रत के पाँच अतिचार

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती ।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥184॥
उपदेश मिथ्या दे, बताना गुप्त एकान्ति रहस ।
सब लेख लिखना असत्, कहना वचन न्यासापहार युत॥
सब काय चेष्टा से समझ, अभिप्राय पर का बताना ।
ये पाँच हैं सत्याणुव्रत के, दोष इनको मिटाना ॥१८४॥

अन्वयार्थ : [मिथ्योपदेशदानं] झूठा उपदेश देना, [रहसोऽभ्याख्यानकूट-लेखकृती] एकान्त की गुप्त बातों को प्रगट करना, झूठा लेख लिखना, [न्यासापहारवचनं] धरोहर के हरण करने का वचन कहना [च] और [साकारमन्त्रभेद:] काय की चेष्टा जानकर दूसरे का अभिप्राय प्रगट करना-यह पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं ।

अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार

प्रतिरूपव्यवहार: स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥185॥
असली में नकली मिला बेचे, चोर को सहयोग दे ।
लेना चुराया द्रव्य, राज विरोध उल्लंघन करे॥
कर माप तौल के साधनों में, हीनता बहुलीकरण ।
अस्तेय अणुव्रत के कहे, अतिचार जान करो त्यजन ॥१८५॥

अन्वयार्थ : [प्रतिरूपव्यवहार:] प्रतिरूप व्यवहार अर्थात् असली चीज में नकली चीज मिलाकर बेचना [स्तेननियोग:] चोरी करनेवालों की सहायता करना, [तदाहृतादानम्] चोरी की लाई हुई वस्तुओं को रखना, [च] और [राजविरोधातिक्रम-हीनाधिकमानकरणे] राज्य द्वारा आदेशित नियमों का उल्लंघन करना, माप या तौल के गज, मीटर, काँटा, तराजू आदि के माप में हीनाधिक करना, - [एते पञ्चास्तेयव्रतस्य] यह पाँच अचौर्यव्रत के अतिचार हैं

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयो: पञ्च ॥186॥
हो तीव्र इच्छा विषय सेवन, अनंग क्रीड़ा अन्य के ।
करना विवाह विवाहिता, अविवाहिता से नित रखे॥
संबंध इत्वरिका गमन, ब्रम्हचर्य अणुव्रत के कहे ।
अतिचार पाँच जिनेन्द्र ने, ब्रम्हचर्य पावन इन तजे ॥१८६॥

अन्वयार्थ : [स्मरतीव्राभिनिवेश:] कामसेवन की अतिशय इच्छा रखना, [अनङ्ग-क्रीडा] योग्य अंगों को छोड़कर दूसरे अंगों के साथ कामक्रीड़ा करना, [अन्यपरिणयनकरणम्] दूसरे का विवाह करना, [च] और [अपरिगृहीतेतरयो:] कुंवारी अथवा विवाहित [इत्वरिकयो:] व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास [गमने] जाना, लेन-देन आदि का व्यवहार करना [एते ब्रह्मव्रतस्य] यह ब्रह्मचर्यव्रत के [पञ्च] पाँच अतिचार हैं

परिग्रहपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रिया: पञ्च ॥187॥
है खेत घर सोना रु चाँदी, धान्य धन दास दासिआँ ।

वस्त्रादि की सीमा उलंघन, दोष संग सीमा कहा ॥१८७॥

अन्वयार्थ : वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।

कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रिया: पञ्च ॥१८७॥

दिग्व्रत के पाँच अतिचार

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमा: क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।

स्मृत्यन्तरस्य गदिता: पंचेति प्रथमशीलस्य ॥188॥

हैं ऊर्ध्व तिर्यग् अध: व्यतिक्रम, क्षेत्र वृद्धि विस्मरण ।

हैं प्रथम दिग्व्रत शील के ये, पाँच दोष करो त्यजन ॥१८८॥

अन्वयार्थ : [ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमा:] ऊपर, नीचे और समान भूमिकी की हुई मर्यादा का उल्लंघन करना अर्थात् जितना प्रमाण किया हो, उससे बाहर चला जाना [क्षेत्रवृद्धि:] परिमाण किये हुये क्षेत्र की लोभादिवश वृद्धि करना और [स्मृत्यन्तरस्य] स्मृति के अलावा क्षेत्र की मर्यादा [आधानम्] धारण करना अर्थात् मर्यादा को भूल जाना [इति] इस प्रकार [पञ्च] पाँच अतिचार [प्रथमशीलस्य] प्रथम शील अर्थात् दिग्व्रत के [गदिता:] कहे गए हैं ।

देशव्रत के पाँच अतिचार

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ ।

क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पंचेति ॥189॥

निज सीम बाहर भेजना या, मँगाना शब्द सुनाना ।

आकार से संकेत, पुद्गल फेक दोष देशव्रत का ॥१८९

अन्वयार्थ : [प्रेषस्य संप्रयोजनम्] प्रमाण किये हुए क्षेत्र के बाहर दूसरे मनुष्य को भेजना, [आनयनं] वहाँ से कोई वस्तु मँगाना [शब्दरूपविनिपातौ] शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारा करना और [पुद्गलानां] कंकड़ आदि पुद्गल [क्षेत्रोऽपि] भी फेंकना [इति] इस प्रकार [पञ्च] पाँच अतिचार [द्वितीयशीलस्य] दूसरे शील के अर्थात् देशव्रत के कहे गए हैं ।

अनर्थदण्डत्यागव्रत के पाँच अतिचार

कन्दर्प: कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम् ।

असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पंचेति ॥190॥

कन्दर्प कुत्सित काय कृति, भोगोपभोगानर्थता ।

वाचालता निर्विचारता, ये अनर्थ विरति कि दोषता ॥१९०॥

अन्वयार्थ : [कन्दर्प:] काम के वचन बोलना, [कौत्कुच्यं] भांडरूप अयोग्य कायचेष्टा करना, [भोगानर्थक्यम्] भोग-उपभोग के पदार्थों का अनर्थक्य, [मौखर्यम्] वाचालता [च] और [असमीक्षिताधिकरणं] विचार किये बिना कार्य करना; [इति] इस प्रकार [तृतीयशीलस्य] तीसरे शील अर्थात् अनर्थदण्डविरति व्रत के [अपि] भी [पञ्च] पाँच अतिचार हैं ।

सामायिक के पाँच अतिचार

वचनमन:कायानां दु:प्रणिधानं त्वनादरश्चैव ।

स्मृत्यनुपस्थानयुता: पंचेति चतुर्थशीलस्य ॥191॥

मन वचन तन की दुष्प्रवृत्ति, अनादर अरु व्यग्रता ।

से विस्मरण व्रत सामायिक के, दोष इनको हटाना ॥१९१॥

अन्वयार्थ : [स्मृत्यनुपस्थानयुता:] स्मृतिअनुपस्थान सहित [वचनमन: कायानां] वचन, मन, और काय की [दु:प्रणिधानं] खोटी प्रवृत्ति [तु] और [अनादर:] अनादर [इति] इस प्रकार [चतुर्थशीलस्य] चौथे शील अर्थात् सामायिकव्रत के [पञ्च] पाँच [एव] ही अतिचार हैं ।

प्रोषधोपवास के पाँच अतिचार

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्ग: ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥192॥
देखे बिना शोधे बिना, कर ग्रहण संस्तर विसर्जन ।
हो अनादर विस्मरण व्यग्र, ये दोष प्रोषधोपवास व्रत ॥१९२॥

अन्वयार्थ : [अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं] देखे बिना अथवा शुद्ध किये बिना ग्रहण करना, [सस्तर:] चटाई आदि बिस्तर लगाना [तथा] तथा [उत्सर्ग:] मलमूत्र का त्याग करना [स्मृत्यनुपस्थानम्] उपवास की विधि भूल जाना [च] और [अनादर:] अनादर-यह [उपवासस्य] उपवास के [पञ्च] पाँच अतिचार हैं ।

भोग-उपभोगपरिमाण के पाँच अतिचार

आहारो हि सचित्त: सचित्तमिश्र सचित्तसम्बन्ध: ।
दुष्पक्वोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥193॥
लेना सचित्ताहार मिश्रित, सचित संग दुपक्व हो ।
कामोत्तेजक दोष, भोगोपभोग सीम व्रत ये तजो ॥१९३॥

अन्वयार्थ : [हि] निश्चय से [सचित्त: आहार:] सचित्त आहार, [सचित्त मिश्र:] सचित्त मिश्र आहार, [सचित्त सम्बन्ध:] सचित्त के सम्बन्धवाला आहार, [दुष्पक्व:] दुष्पक्व आहार [च अपि] और [अभिषव आहार] *अभिषव आहार [अभी] यह [पञ्च] पाँच अतिचार [षष्ठशीलस्य] छट्ठे शील अर्थात् भोगोपभोगपरिमाण व्रत के हैं ।

वैयावृत्त के पाँच अतिचार

परदातृव्यपदेश: सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च ।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने ॥194॥
पर से दिलाना सचित्त रखना, सचित्त से ढकना समय ।
का अतिक्रमण मात्सर्य, अतिथिदान में ये दोष तज ॥१९४॥

अन्वयार्थ : [परदातृव्यपदेश:] परदातृव्यपदेश, [सचित्त निक्षेपतत्पिधाने च] सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान, [कालस्यातिक्रमणं] काल का अतिक्रम [च] और [मात्सर्य्यं] मात्सर्य- [इति] इस प्रकार [अतिथिदाने] अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं ।

सल्लेखना के पाँच अतिचार

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुराग: सुखानुबन्धश्च ।
सनिदान: पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥195॥
जीने की इच्छा मरण इच्छा, मित्र राग सुखानुबन्ध ।
अरु है निदान सल्लेखना के, काल में ये दोष तज ॥१९५॥

अन्वयार्थ : [जीवितमरणाशंसे] जीवन की आशंसा, मरण की आशंसा, [सुहृदनुराग:] सुहृद अर्थात् मित्र के प्रति अनुराग, [सुखानुबन्ध:] सुख का अनुबन्ध [च] और [सनिदान:] निदान सहित- [एते] यह [पञ्च] पाँच अतिचार [सल्लेखनाकाले] समाधिमरण के समय [भवन्ति] होते हैं ।

अतिचार के त्याग का फल

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य ।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलै: पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥196॥

यों इन अतिचारों अपर भी, सोच तज सम्यक्त्व व्रत ।
शीलादि निर्मल से पुरुष की, **अर्थ** सिद्धि शीघ्र नित ॥१९६॥

अन्वयार्थ : [इति] इस प्रकार गृहस्थ [एतान्] इन पूर्वोक्त [अतिचारान्] अतिचार और [अपरान्] दूसरे दोषोत्पादक अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि का [अपि] भी [संप्रतर्क्य] विचार करके [परिवर्ज्य] छोड़कर [अमलै:] निर्मल [सम्यक्त्वव्रतशीलै:] सम्यक्त्व, व्रत और शील द्वारा [अचिरात्] अल्प काल में ही [पुरुषार्थसिद्धिम्] पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि [एति] पाते हैं ।

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तै: ॥197॥
चारित्र अन्तर्भाव से, तप भी सुसाधन मोक्ष का ।
नहिं छुपा सेवो यथाशक्ति, सावधानी से कहा ॥१९७॥

अन्वयार्थ : [आगमे] जैन आगम में [चारित्रान्तर्भावात्] चारित्र का अन्तर्वर्त्ती होने से [तप:] तप को [अपि] भी [मोक्षाङ्गम्] मोक्ष का अंग [गदित्तम्] कहा गया है अत: [अनिगूहितनिजवीर्यै:] अपना पराक्रम न छुपानेवाले तथा [समाहितस्वान्तै:] सावधान चित्तवाले पुरुषों को [तदपि] उस तप का भी [निषेव्यम्] सेवन करना योग्य है ।

बाह्य तप

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्याग: ।
कायक्लेशो वृत्ते: सङ्ख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम् ॥198॥
अनशन अवमौदर्य, शैयासन विविक्त रस त्याग हैं ।
तनक्लेश वृत्ति परी संख्या, बाह्य तप नित सेव्य हैं ॥१९८॥

अन्वयार्थ : [अनशनं] अनशन, [अवमौदर्यं] ऊनोदर, [विविक्तशय्यासनं] विविक्त शय्यासन, [रसत्याग:] रस परित्याग, [कायक्लेश:] कायक्लेश [च] और [वृत्ते: संख्या] वृत्ति की संख्या-[इति] इस प्रकार [बाह्य तप:] बाह्यतप का [निषेव्यम्] सेवन करना योग्य है ।

अतरङ्ग तप

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्ग: ।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ॥199॥
नित प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत व्युत्सर्ग अध्ययन ।
है ध्यान तप आभ्यन्तरी, नित सेव्य ये जिनवर कथन ॥१९९॥

अन्वयार्थ : [विनय:] विनय, [वैयावृत्त्यं] वैयावृत्त्य, [प्रायश्चित्तं] प्रायश्चित्त [तथैव च] और इसी प्रकार [उत्सर्ग:] उत्सर्ग, [स्वाध्याय:] स्वाध्याय [अथ] और [ध्यानं] ध्यान- [इति] इस तरह [अन्तरङ्गम्] अन्तरङ्ग [तप:] तप [निषेव्यं] सेवन करने योग्य [भवति] है ।

मुनिव्रत की प्रेरणा

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम् ।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥200॥
सब जिनागम में मुनिवरों का, कहा है जो आचरण ।
निज वीर्य पदवी सोचकर, उस रूप करना निज चरण ॥२००॥

अन्वयार्थ : [जिनपुङ्गवप्रवचने] जिनेश्वर के सिद्धान्त में [मुनीश्वराणाम्] मुनीश्वर अर्थात् सकलव्रतधारियों का [यत्] जो [आचरणम्] आचरण [उक्तम्] कहा है, [एतत्] यह [अपि] भी गृहस्थों को [निजां] अपने [पदवीं] पद [च] और [शक्तिं] शक्ति को [सुनिरूप्य] भले प्रकार विचार करके [निषेव्यम्] सेवन करना योग्य है ।

छह आवश्यक

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम् ।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम् ॥201॥
ये नित षडावश्यक करो, समता रु स्तव वन्दना ।
प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग जिससे बन्ध ना ॥२०१॥

अन्वयार्थ : [समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्] समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [च] और [वपुषो व्युत्सर्ग:] कायोत्सर्ग-[इति] इस प्रकार [इदम्] यह [आवश्यक षट्कं] छह आवश्यक [कर्त्तव्यम्] करना चाहिए ।

तीन गुप्ति

सम्यग्दण्डो वपुष: सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य ।
मनस: सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम् ॥202॥
सम्यक् विधि से करे तन वश, वचन सम्यक् रोध हों ।
सम्यक् विधि से मन सुथिर, त्रय दण्ड रुक त्रय गुप्ति हों ॥२०२॥

अन्वयार्थ : [वपुष:] शरीर को [सम्यग्दण्ड:] सम्यक्तया वश करना, [तथा] तथा [वचनस्य] वचन को [सम्यग्दण्ड:] सम्यक् प्रकार वश करना [च] और [मनस:] मन का [सम्यग्दण्ड:] सम्यक्-रूप से निरोध करना - इस प्रकार [गुप्तीनां त्रितयम्] तीन गुप्तियों को [अवगम्यम्] जानना चाहिए ।

पाँच समिति

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्ग: सम्यगिति समिति: ॥203॥
गमनागमन एकाग्रता से, वचन हित मित एषणा ।
सम्यक् ग्रहण निक्षेप अरु, व्युत्सर्ग समिति जानना ॥२०३॥

अन्वयार्थ : [सम्यग्गमनागमनं] सावधानी से देख भालकर गमन और आगमन [सम्यग्भाषा] उत्तम हितमितरूप वचन, [सम्यक् एषणा] योग्य आहार का ग्रहण, [सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ] पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नपूर्वक क्षेपण करना [तथा] और [सम्यग्व्युत्सर्ग:] प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्रादि का त्याग करना-[इति] इस प्रकार यह पाँच [समिति:] समिति हैं ।

दश धर्म

धर्म: सेव्य: क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम् ।
अकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥204॥
उत्तम क्षमा मृदुता सरलता, शौच सत्य सुसंयम ।
तप त्याग आकिंचन्य अरु, ब्रम्हचर्य सेव्य सतत धरम ॥२०४॥

अन्वयार्थ : [क्षान्ति:] क्षमा, [मृदुत्वं] मार्दव, [ऋजुता] सरलता अर्थात् आर्जव [शौचम्] शौच [अथ] पश्चात् [सत्यम्] सत्य, [च] तथा [अकिंञ्चन्यं] आकिञ्चन, [ब्रह्म] ब्रह्मचर्य, [च] और [त्याग:] त्याग, [च] और [तप:] तप [च] और [संयम:] संयम [इति] इस प्रकार [धर्म:] दश प्रकार का धर्म [सेव्य:] सेवन करना योग्य है ।

बारह भावना

अधुरवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म: ।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जरा: सततमनुप्रेक्ष्या: ॥205॥

अध्रुव अशरण भव एकत्व, अन्यताशुचि आस्रव ।
संवर निर्जरा लोक बोधि, कठिन वृष अनुप्रेक्ष्य नित ॥२०५॥

अन्वयार्थ : [अध्रुवम्] अध्रुव, [अशरणम्] अशरण, [एकत्वम्] एकत्व, [अन्यता] अन्यत्व, [अशौचम्] अशुचि, [आस्रव:] आस्रव, [जन्म:] संसार, [लोक-वृषबोधिसंवरनिर्जरा:] लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर और निर्जरा [एताद्वादशभावना] इन बारह भावनाओं का [सततम्] निरन्तर [अनुप्रेक्ष्या:] बारम्बार चिन्तवन और मनन करना चाहिए ।

बाईस परीषह

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभ: ।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदु:खमङ्गमलम् ॥206॥
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा ।
सत्कारपुरस्कार: शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री ॥207॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्या: परीष सततम् ।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥208॥
क्षुत् तृषा शीतोष्ण, दंशमशक नगनता याचना ।
अरति अलाभ आक्रोश स्त्री, रोग चर्या निषद्या ॥२०६॥
शैया अदर्शन देह-मल, वध तृणस्पर्श अज्ञानता ।
प्रज्ञा तथा सत्कार पुरष्कार बाइस जानना ॥२०७॥
संक्लेश विरहित चित्त से, संक्लेश साधनभीति से ।
हैं सतत सहने योग्य परिषह, आतमा के लक्ष्य से ॥२०८॥

अन्वयार्थ : [संक्लेशमुक्तमनसा] संक्लेशरहित चित्तवाला और [संक्लेशनिमित्त-भीतेन] संक्लेश के निमित्त से अर्थात् संसार से भयभीत साधु को [सततम्] निरन्तर [क्षुत्] क्षुधा, [तृष्णा] तृषा, [हिमम्] शीत, [उष्णम्] उष्ण, [नग्नत्वं] नग्नपना, [याचना] प्रार्थना, [अरति:] अरति, [अलाभ:] अलाभ, [मशकादीनांदंश:] मच्छरादि का काटना, [आक्रोश:] कुवचन, [व्याधिदु:खम्] रोग का दु:ख [अङ्गमलम्] शरीर का मल, [तृणादीनां स्पर्श:] तृणादिक का स्पर्श, [अज्ञानम्] अज्ञान, [अदर्शनम्] अदर्शन, [तथा] इसी प्रकार [प्रज्ञा] प्रज्ञा [सत्कारपुरस्कार:] सत्कार-पुरस्कार [शय्या] शयन, [चर्या] गमन, [वध:] वध, [निषद्या] आसन, [च] और [स्त्री] स्त्री-[एते] यह [द्वाविंशति:] बाईस [परिषहा:] परीषह [अपि] भी [परिषोढव्या:] सहन करने योग्य हैं ।

निरन्तर रत्नत्रय का सेवन

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन ।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ॥209॥
स्थाई शिव वांछक गृही को, भी सतत सेवनीय ही ।
सम्यक् रत्नत्रय प्रतिसमय, चाहे पले वह विकल ही ॥२०९॥

अन्वयार्थ : [इति] इस प्रकार [एतत्] पूर्वोक्त [रत्नत्रयम्] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय [विकलम्] एकदेश [अपि] भी [निरत्ययां] अविनाशी [मुक्तिम्] मुक्ति के [अभिलषिता] चाहनेवाले [गृहस्थेन] गृहस्थ को [अनिशं] निरन्तर [प्रतिसमयं] हर समय [परिपालनीयम्] सेवन करना चाहिए ।

गृहस्थों को शीघ्र मुनिव्रत की प्रेरणा

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य ।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥210॥

यह विकल भी सत् यत्न से नित बोधि पाने के समय ।
पा मुनि पद अवलम्ब कर, परिपूर्ण शीघ्र करो स्वयं ॥२१०॥

अन्वयार्थ : [च] और यह विकलरत्नत्रय [नित्यं] निरन्तर [बद्धोद्यमेन] उद्यम करने में तत्पर ऐसे मोक्षाभिलाषी गृहस्थों को [बोधिलाभस्य] रत्नत्रय के लाभ का [समयं] समय [लब्ध्या] प्राप्त करके तथा [मुनीनां] मुनियों के [पदम्] पद का-[चरण का] [अवलम्ब्य] अवलम्बन करके [सपदि] शीघ्र ही [परिपूर्णम्] परिपूर्ण [कर्त्तव्यम्] करना योग्य है ।

अपूर्ण रत्नत्रय से कर्म-बंध

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य: ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपाय:॥211॥
अपूर्ण रत्नत्रय सहित के, कर्म बन्ध विपक्ष से ।
रागादि ही बंधन करें, यह तो सतत शिवहेतु है ॥२११॥

अन्वयार्थ : [असमग्रं रत्नत्रयम्] अपूर्ण रत्नत्रय की [भावयत:] भावना वाले के [य: कर्मबन्ध: अस्ति] जो कर्म का बन्ध है [स:] वह [विपक्षकृत:] विपक्षकृत (राग-कृत) है, [अवश्यं मोक्षोपाय:] अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, [न बन्धनोपाय:] बन्ध का उपाय नहीं है ।

रत्नत्रय और राग का फल

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥212॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥213॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥214॥
जिस अंश से सुदृष्टि, बन्धन नहीं है उस अंश से ।
जिस अंश से है राग, बन्धन है सदा उस अंश से ॥२१२॥
जिस अंश से सद्ज्ञान, बन्धन नहीं है उस अंश से ।
जिस अंश से है राग, बन्धन है सदा उस अंश से ॥२१३॥
जिस अंश से सच्चरित्र, बन्धन नहीं है उस अंश से ।
जिस अंश से है राग, बन्धन है सदा उस अंश से ॥२१४॥

अन्वयार्थ : [अस्य येनांशेन सुदृष्टि:] इस (आत्मा) के जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, [तेन अंशेन] उतने अंश में [बन्धनं नास्ति] बन्धन नहीं है [तु येन अंशेन] परन्तु जितने अंश में [अस्य राग:] इसके राग है, [तेन अंशेन] उतने अंश में [बन्धनं भवति] बन्ध होता है । [येन अंशेन] जितने अंश में [अस्य ज्ञानं] इसके ज्ञान है, [तेन अंशेन] उतने अंश में [बन्धनं नास्ति] बन्ध नहीं है [तु येन अंशेन] परन्तु जितने अंश में [राग: तेन अंशेन] राग है, उतने अंश में [अस्य बन्धनं भवति] इसके बन्ध होता है । [येन अंशेन] जितने अंश में [अस्य चरित्रं] इसके चारित्र है, [तेन अंशेन] उतने अंश में [बन्धनं नास्ति] बन्ध नहीं है, [तु येन] परन्तु जितने [अंशेन राग:] अंश में राग है, [तेन अंशेन] उतने अंश में [अस्य बन्धनं भवति] इसके बन्ध होता है ।

बंध का कारण

योगात्प्रदेशबन्ध: स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥215॥
प्रदेश बन्ध है योग से, स्थिति बन्ध कषाय से ।

नहिं योगरूप कषायमय नहिं, दर्श बोध चरित्र ये ॥२१५॥

अन्वयार्थ : [प्रदेशबन्ध:] प्रदेशबन्ध [योगात्] मन, वचन, काय के व्यापार से [तु] और [स्थितिबन्ध:] स्थितिबन्ध [कषायात्] क्रोधादि कषायों से [भवति] होता है, परन्तु [दर्शनबोधचरित्रं] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय [न योगरूपं च कषायरूपं] योगरूप और कषायरूप नहीं हैं ।

रत्नत्रय से बन्ध नहीं

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोध: ।

स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्ध: ॥216॥

है आत्म निश्चयमई दर्शन, आत्म परिज्ञान बोध है ।

आत्मा में स्थिरता सुचारित्र, बन्ध कैसे इन्हीं से? ॥२१६॥

अन्वयार्थ : [आत्मविनिश्चिति:] अपने आत्मा का विनिश्चय [दर्शनम्] सम्यग्दर्शन, [आत्मपरिज्ञानं] आत्मा का विशेष ज्ञान [बोध:] सम्यग्ज्ञान और [आत्मनि] आत्मा में [स्थिति:] स्थिरता [चारित्रं] सम्यक्चारित्र [इष्यते] कहा जाता है तो फिर [एतेभ्य: 'त्रिभ्य:'] इन तीनों से [कुत:] किस तरह [बन्ध:] बन्ध [भवति] होवे?

रत्नत्रय से शुभ प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्म्मणो बन्ध: ।

योऽप्युपदिष्ट: समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥217॥

सम्यक्त्व चारित्र से तीर्थंकर, कर्म आहारक बँधें ।

यह जो जिनागम वचन, हेतु दोष नहिं नयविज्ञ के ॥२१७॥

अन्वयार्थ : [अपि] और [तीर्थकराहारकर्म्मणा:] तीर्थंकर प्रकृति और आहारक द्विक प्रकृति का [य:] जो [बन्ध:] बन्ध [सम्यक्त्वचरित्राभ्यां] सम्यक्त्व और चारित्र से [समये] आगम में [उपदिष्ट:] कहा गया है, [स:] वह [अपि] भी [नयविदां] नय के ज्ञाताओं को [दोषाय] दोष का कारण [न] नहीं है ।

उसे स्पष्ट कहते हैं

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवत: ।

योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥218॥

सम्यक्त्व चारित्रवान के ही, बँधें योग कषाय से ।

ही तीर्थंकर आहारद्विक, नहिं हों बँधे नहिं राध से ॥२१८॥

अन्वयार्थ : [यस्मिन्] जिसमें [सम्यक्त्वचरित्रेसति] सम्यक्त्व और चारित्रवान को ही [तीर्थकराहारबन्धकौ] तीर्थंकर और आहारकद्विक के बन्धक [भवत:] होते हैं [योगकषायौ] योग और कषाय [असति न] नहीं होने पर [तत्] वह (सम्यक्त्व और चारित्र) [पुन:] फिर [अस्मिन्] इस (बन्ध) में [उदासीनम्] उदासीन हैं ।

सम्यक्त्व को देवायु के बन्ध का कारण क्यों?

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायु: प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्ध: ।

सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥219॥

नित रत्नत्रययुत मुनिवरों के, बँधें जग प्रसिद्ध यह ।

देवायु आदि सत् प्रकृतिआँ, सिद्ध कैसे? प्रश्न यह ॥२१९॥

अन्वयार्थ : [ननु] शंका-कोई पुरुष शंका करता है कि [रत्नत्रयधारिणां] रत्नत्रय के धारक [मुनिवराणां] श्रेष्ठ मुनियों को [सकलजनसुप्रसिद्ध:] सर्व लोक में भले प्रकार प्रसिद्ध [देवायु: प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्ध:] देवायु आदि उत्तम प्रकृतियों का बन्ध [एवं कथम्]

पूर्वोक्त प्रकार से किस तरह [सिद्ध्यति] सिद्ध होगा ।

उसका उत्तर

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराध: ॥220॥
है मोक्ष का ही हेतु रत्नत्रय, नहीं है अन्य का ।
अपराध शुभ उपयोग मय, आस्रव हुआ यह पुण्य का ॥२२०
अन्वयार्थ : [इह] इस लोक में [रत्नत्रयं] रत्नत्रयरूप धर्म [निर्वाणस्य एव हेतु भवति] निर्वाण का ही कारण होता है, [अन्यस्य न] अन्य का नहीं, [तु यत्] परन्तु जो [पुण्यं आस्रवति] पुण्य का आस्रव होता है, [अयम् अपराध: शुभोपयोग:] यह अपराध शुभोपयोग का है ।
एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमिति ॥221॥
नित एक में समवाय से, विपरीत अति ही परस्पर ।
के कार्य में व्यवहार रूढ़ि, ज्यों जलाता घी कथन ॥२२१॥
अन्वयार्थ : [हि एकस्मिन्] निश्चय से एक वस्तु में [अत्यन्तविरुद्धकार्ययो: अपि] अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के भी [समवायात्] मेल से [तादृश: अपि] वैसा ही [व्यवहार: रूढिम्] व्यवहार रूढ़ि को [इत:] प्राप्त है, [यथा] जैसे [इह] इस लोक में [घृतम् दहति] 'घी जलाता है' - [इति] इस प्रकार की कहावत है ।
सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येष: ।
मुख्योपचाररूप: प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥222॥
मुख्योपचारमई सुसमकित, बोध चारित्र युक्त यह ।
शिवमार्ग आतम को परम, पद प्राप्त करवाता सतत ॥२२२॥
अन्वयार्थ : [इति] इस प्रकार [एष:] यह पूर्वकथित [मुख्योपचाररूप:] निश्चय और व्यवहाररूप [सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षण:] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षणवाला [मोक्षमार्ग:] मोक्ष का मार्ग [पुरुषं] आत्मा को [परं पदं] परमात्मा का पद [प्रापयति] प्राप्त करवाता है ।
नत्यमपि निरुपलेप: स्वरूपसमवस्थितो निरुपघात: ।
गगनमिव परमपुरुष: परमपदे स्फुरति विशदतम: ॥223॥
हैं नित्य ही उपलेप बिन, उपघात बिन निज रूप में ।
स्थित विशद परमात्मा, नभसम प्रकाशित मोक्ष में ॥२२३॥
अन्वयार्थ : [नित्यमपि] हमेशा [निरुपलेप:] कर्मरूपी रज के लेप से रहित [स्वरूपसमवस्थित:] अपने अनन्तदर्शन-ज्ञान स्वरूप में भले प्रकार स्थित [निरुपघात:] उपघात रहित और [विशदतम:] अत्यन्त निर्मल [परमपुरुष:] परमात्मा [गगनम् इव] आकाश की भाँति [परमपदे] लोकशिखरस्थित मोक्षस्थान में [स्फुरति] प्रकाशमान होता है ।

परमात्मा का स्वरूप

कृतकृत्य: परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥224॥
नित ज्ञानमय सर्वज्ञ, परमानन्द स्थिर कृत्यकृत ।
परमात्मा निज परम पद, में विराजित आनन्दयुत ॥२२४॥
अन्वयार्थ : [कृतकृत्य:] कृतकृत्य [सकलविषयविषयात्मा] समस्त पदार्थ जिनके विषय हैं (सर्व पदार्थों के ज्ञाता) [परमानन्दनिमग्न:] परम-आनन्द में अतिशय मग्न [ज्ञानमय:] ज्ञानमय ज्योतिरूप [परमात्मा] मुक्तात्मा [परमपदे] सर्वोच्च पद (मोक्ष) में [सदैव] निरन्तर ही

[नन्दति] आनन्दरूप से विराजमान हैं ।

नय-विवक्षा

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेणत्र ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥225॥
ज्यों एक खीचें अन्य छोर, शिथिल करें मथते दही ।
त्यों विविध धर्मी वस्तु में से प्रयोजन वश एक ही॥
करते प्रमुख हैं अन्य गौण, इसी तरह सब धर्म का ।
हो ज्ञान जैनी नीति यह, जयवन्त वर्ते नित यहाँ ॥२२५॥
अन्वयार्थ : [मन्थाननेत्रम्] दही की मथनी की रस्सी को खेंचनेवाली [गोपी इव] ग्वालिनी की तरह [जैनी नीति:] जिनेन्द्रदेव की स्याद्वाद नीति अथवा निश्चय-व्यवहाररूप नीति [वस्तुतत्त्वम्] वस्तु के स्वरूप को [एकेन] एक सम्यग्दर्शन से [आकर्षन्ती] अपनी तरफ खेंचती है, [इतरेण] दूसरे से अर्थात् सम्यग्ज्ञान से [श्लथयन्ती] शिथिल करती है और [अन्तेन] अन्तिम अर्थात् सम्यक्चारित्र से सिद्धरूप कार्य को उत्पन्न करने से [जयति] सर्व के ऊपर वर्तती है ।

आचार्य द्वारा ग्रन्थ की पूर्णता

वर्णै: कृतानि चित्रै: पदानि तु पदै: कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यै: कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभि: ॥226॥
इन विविध वर्णों से बने, पद वाक्य बनते पदों से ।
शुभ शास्त्र वाक्यों से बना, नहिं किया है हमने इसे ॥२२६॥
अन्वयार्थ : [चित्रै:] अनेक प्रकार के [वर्णै:] अक्षरों से [कृतानि] रचे गये [पदानि] पद, [पदै:] पदों से [कृतानि] बनाये गये [वाक्यानि] वाक्य हैं, [तु] और [वाक्यै:] उन वाक्यों से [पुन:] फिर [इदं] यह [पवित्रं] पवित्र-पूज्य [शास्त्रं] शास्त्र [कृतं] बनाया गया है, [अस्माभि:] हमारे द्वारा [न 'किमपि कृतम्'] कुछ भी नहीं किया गया है ।